विवेक-ज्योति

• हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

वर्ष : १८
अंक : ४

प्रति अंक १॥)
वार्षिक शुल्क ५)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण–विवेकानन्द–भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर - नवम्बर - दिसम्बर

★ १९८० ★

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक
ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क – १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२००१ (म० प्र०)
दूरभाष । २४५८९

अनुक्रमणिका

–:०:–

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित ।

मुद्रण स्थल : रायपुर प्रिन्टर्स, श्याम टाकीज के पास, रायपुर

" आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च "

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण–विवेकानन्द–भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर - नवम्बर - दिसम्बर

वर्ष १८) (अंक ४

★ १९८० ★

वासना-मुक्ति से आत्मानुभूति

यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मन-
स्तथा तथा मुंचति बाह्यवासनाः ।
निःशेषमोक्षे सति वासनाना-
मात्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या ॥

——मन जैसे जैसे अन्तर्मुख होता जाता है, वैसे वैसे ही वह बाह्य वासनाओं को छोड़ता जाता है। जिस समय वासनाओं से पूर्णतया छुटकारा हो जाता है, उस समय आत्मा का प्रतिबन्धशून्य अनुभव होने लगता है।

——विवेकचूड़ामणि, २७७

अग्नि-मंत्र

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

१८९५

प्रिय राखाल,

... मेरे भारत आने का तुम्हारा सुझाव निस्सन्देह ठीक है। किन्तु इस देश में एक बीज बोया जा चुका है और मेरे अचानक यहाँ से चले जाने पर सम्भव है, उसका अंकुर पनप ही न पाये। इसलिए मुझे कुछ समय प्रतीक्षा करनी है। इसके अतिरिक्त तब यहाँ से प्रत्येक कार्य की सुन्दर व्यवस्था करनी सम्भव होगी। प्रत्येक व्यक्ति मुझसे भारत लौटने का आग्रह करता है। वह ठीक है, किन्तु क्या तुम नहीं अनुभव करते कि दूसरों के ऊपर निर्भर रहना बुद्धिमानी नहीं है? बुद्धिमान व्यक्ति को अपने ही पैरों पर दृढ़तापूर्वक खड़ा होकर कार्य करना चाहिए। धीरे धीरे सब कुछ ठीक हो जायगा। अभी तो किसी जमीन का पता लगाते रहना न भूलना। हमें लगभग दस से बीस हजार तक का बड़ा 'प्लाट' चाहिए। उसे ठीक गंगातट पर होना चाहिए। यद्यपि मेरी पूंजी अल्प है, तथापि मैं अत्यधिक साहसी हूँ। भूमि प्राप्त करने की बात ध्यान रहे। अभी हमें तीन केन्द्र चलाने होंगे -- एक न्यूयार्क में, दूसरा कलकत्ता में और तीसरा मद्रास में। फिर धीरे धीरे जैसी कि प्रभु व्यवस्था करेंगे ... स्वास्थ्य पर तुम्हें विशेष ध्यान देना है, अन्य सभी बातें इसके अधीन हों।

भाई तारक यात्रा के लिए उत्सुक हैं। यह अच्छी बात है। परन्तु ये देश बड़े महंगे हैं। एक उपदेशक को यहाँ कम से कम एक हजार रुपये मासिक की आवश्यकता पड़ती

है। परन्तु भाई तारक में साहस है और ईश्वर प्रत्येक चीज की व्यवस्था करता है। यह बिल्कुल सच है, पर उन्हें अपनी अंग्रेजी में कुछ सुधार करना आवश्यक है। सही बात यह है कि मिशनरी विद्वानों के मुँह से अपनी रोटी छीननी पड़ती है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अपनी विद्वत्ता के आधार पर इन लोगों पर हावी होना पड़ता है। अन्यथा व्यक्ति एक ही फूँक में उड़ जायगा। ये लोग न तो साधु समझते हैं और न संन्यासी, और न त्याग का भाव ही। जो बात ये समझते हैं, वह है विशाल अध्ययन, वक्तृत्व-शक्ति का प्रदर्शन और अथक क्रियाशीलता। और सर्वोपरि, सारा देश छिद्रान्वेषण की चेष्टा करेगा। पादरी चाहे शक्ति द्वारा, चाहे छल से, दिन-रात तुम्हें फटकार बतायेंगे। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए तुम्हें इन बाधाओं से मुक्ति पाना आवश्यक है। मातृ-कृपा से सब कुछ सम्भव है। किन्तु मेरी राय में यदि भाई तारक पंजाब और मद्रास में कुछ संस्थाओं का स्थापन करते चलें और तुम लोग संघबद्ध हो जाओ, तो यह सबसे अच्छी बात होगी। नये पथ की खोज निस्सन्देह एक बड़ी बात है, किन्तु उस मार्ग को स्वच्छ और प्रशस्त और सुन्दर बनाना उतना ही कठिन कार्य है। यदि तुम उन स्थानों में, जहाँ मैंने गुरुदेव के आदर्शों का बीज बोया है, कुछ समय तक रहो और बीजों को पौधों में विकसित करने में सफल होओ, तो तुम मेरी अपेक्षा कहीं अधिक कार्य करोगे। जो लोग एक बनी-बनायी चीज की व्यवस्था नहीं कर सकते, वे उस चीज के प्रति, जो अभी तक नहीं मिली, क्या कर सकेंगे? यदि तुम परोसी हुई थाली में थोड़ा सा नमक मिलाने में असमर्थ हो, तो मैं कैसे विश्वास करूँ कि तुम सारे व्यंजन प्रस्तुत कर लोगे? इसके बदले भाई तारक अल्मोड़े में एक हिमालय मठ स्थापित

करें तथा वहाँ एक पुस्तकालय चलायें, ताकि हम अपने अवकाश का कुछ समय एक ठण्डे स्थान में बितायें और आध्यात्मिक साधना का अभ्यास करें। इतने पर भी किसी के द्वारा अंगीकृत किये गये मार्ग के विरुद्ध मुझे कुछ नहीं कहना है, वरन् ईश्वर कल्याण करे — 'शिवा वः सन्तु पन्थानः' — 'तुम्हारी यात्रा मंगलमय हो!' उसे किंचित् प्रतीक्षा करने के लिए कहो। शीघ्रता करने से क्या लाभ? तुम सभी सारी दुनिया की यात्रा करोगे। साहस! भाई तारक के भीतर कार्य करने की महान् क्षमता है। अतः मैं उनसे बहुत आशा करता हूँ। . . .तुम्हें याद है कि श्रीरामकृष्ण के निर्वाण के पश्चात् किस प्रकार सभी लोगों ने हमें कुछ निकम्मा और दरिद्र बालक समझकर हमारा परित्याग कर दिया था।

केवल बलराम, सुरेश, मास्टर और चुनी बाबू जैसे लोग ही आवश्यकता के उन क्षणों में हमारे मित्र थे। और, हम उनसे कभी उऋण नहीं हो सकते। . . .अकेले में चुनी बाबू से कहो कि उनके लिए कोई भय की बात नहीं है, जिनकी रक्षा प्रभु करते हैं, उन्हें भय से परे होना चाहिए। मैं एक छोटा सा आदमी हूँ, परन्तु प्रभु का ऐश्वर्य अनन्त है।

'माभैः माभैः' — भय छोड़ो। तुम्हारा विश्वास न हिले। . . . जिसे प्रभु ने अपना लिया है, क्या उसके लिए भय में कोई शक्ति है?

सदा तुम्हारा ही,
विवेकानन्द

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

सम्भवतः उसी दिन की बात है या अन्य किसी दिन की, ठीक स्मरण नहीं है। एक शिष्य ने आसाम से विरण[1] चावल भेजा था, एक दूसरा शिष्य उस चावल को भाप में पकाकर घी-भात बना रहा था। इसके लिए उसने परिश्रम-पूर्वक यंत्र-औजार जुटाये थे। बहुतों को सन्देह था कि भाप में चावल पकेगा या नहीं। पर बाद में जब उससे अत्यन्त सुन्दर भात बना, तो सभी विस्मित हो भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। माँ अत्यन्त उल्लसित हो गयीं, बालिका के समान अधीर हो सभी को बुला-बुलाकर दिखाने लगीं। (विरण चावल भाप में ही अच्छी तरह पकता है तथा अत्यन्त स्वादिष्ट होता है; इस चावल की लाई सुन्दर बनती है।) कहने लगीं, "देखो, लड़कों ने भाप में कैसा सुन्दर अन्न राँधा है, यह अति पवित्र आज्य अन्न है, अति पवित्र आज्य अन्न।" ऐसा कह बारम्बार प्रशंसा करके ठाकुर को उसका भोग लगाया। फिर एक कटोरी में थोड़ा लिया और बोलीं, "जरा काली को दे आऊँ, पवित्र आज्य अन्न है।" माँ बड़ी ही उल्लसित हो काली मामा के घर गयीं और स्वयं दे आयीं। तत्पश्चात् स्वयं ही परोसकर सन्तानों को भर-पेट खिलाया। जब चावल पकाया जा रहा था, तो सन्तानों से स्वयं पूछकर कि इस भात के साथ और कौनसी चीज खाने में आनन्द आएगा, उन्होंने तली हुई तरकारियाँ अच्छी तरह तैयार करवायी थीं। इस अन्न के सम्बन्ध में माँ ने और एक बात कही थी कि वह अति पवित्र

---

[1] चावल का एक प्रकार।

आज्य अन्न है, वह साधारण भात या कच्ची रसोई के समान जूठन या बासी आदि के दोष से दूषित नहीं होता; वह घी से बनी चीज है और घी सदैव शुद्ध है, वह कभी भी अशुद्ध नहीं होता। दक्षिणेश्वर में एक दिन ठाकुर ने जूठे हाथ से घी की कटोरी पकड़ रखी थी, यह देख माँ ने विस्मित हो पूछा था, "यह तुमने क्या किया, सारा घी जूठा हो गया !" इस पर ठाकुर ने हँसकर कहा था, "घी कभी जूठा नहीं होता।" अत्यन्त साधारण बात को ले माँ को छोटी बालिका के समान उल्लसित और विषण्ण होते देखा जाता था — यह एक आश्चर्य की बात थी। जिन्होंने यह देखा है, उनके हृदय में चिरकाल के लिए वह अंकित हो गया है।

अच्छा दूध पाने की आशा में कोई प्रचलित दाम से ज्यादा देकर दूध खरीदे यह माँ को पसन्द न था। वे कहतीं, इस प्रकार दाम बढ़ाने से तो वह लालच में पड़ दूध में और अधिक पानी मिलाएगा, फिर चीज का दाम बढ़ा देने से अन्य सबको परेशानी होगी। पैसा हाथ में रहने से ज्यादा दाम देकर चीज खरीद लेना उचित नहीं है, उससे दूसरों के मन में ईर्षा-द्वेष का भी संचार होता है। इसलिए वे सबको इस सम्बन्ध में सावधान कर देतीं और यदि कोई इस प्रकार खरीद लेता, तो उसे दूसरों को यह बताने से मना कर देतीं कि उसने अधिक दाम देकर खरीदा है। कभी कभी साधारण-सी बात में भी माँ का बचपना-सा देख शिष्य-सन्तानों को भारी कौतूहल होता। कोआलपाड़ा आश्रम में परवल की खेती होती और वहाँ अच्छा परवल निकलता। वहाँ से परवल के कुछ पौधे ला एक शिष्य ने माँ के मकान की बाड़ी में लगा दिय थे। उस समय माँ कलकत्ते में थीं। उस अंचल में तब परवल की खेती नहीं होती थी। यद्यपि लोग परवल खाना

पसन्द करते, पर उसकी खेती को भय की दृष्टि से देखते। इसलिए माँ के यहाँ परवल के पौधे लगाने की बात को ले विवाद होने लगा। लड़कियों ने माँ को सूचित किया, "परवल लगाना हुआ है, वह बड़े ही अमंगल की बात है। परवल तोड़ेगा कौन?" 'परवल तोड़ने' का प्रचलित अर्थ था 'मृत्यु' ——संसार से विदा लेना। माँ समाचार पा शंकित हो गयीं और उन्होंने परवल की लताओं को उखाड़ फेंकने का निर्देश दिया। सन्तानों ने तुरन्त माँ की आज्ञा का पालन किया। पर साथ ही माँ का बच्चों के समान डर-शंका देख वे बहुत हँसने लगे। अब तो जयरामवाटी अंचल में मातृमन्दिर में भी खूब परवल की खेती होती है। पर तब तो उन लोगों को यह समझाया नहीं जा सका था कि यदि परवल तोड़ने से ही मनुष्य मर जाता हो, तो बाजार में इतना परवल कहाँ से आता है! फिर लोग परवल के लिए इतना लालायित क्यों रहते हैं?

संसार में सबसे सूक्ष्म यंत्र है मनुष्य का हृदय। तो, जो माँ कटाक्ष मात्र से ऐसे सूक्ष्म यंत्र को परिवर्तित कर दे सकती थीं, वे एक सामान्य लालटेन को साफ करना बड़ा कठिन समझती थीं। जयरामवाटी में माँ के कमरे में पुराने युग की एक लालटेन थी। उसकी तार की जाली को खोल चिमनी को निकालना, उसे साफ करना, ढिबरी को खोल उसमें मिट्टी तेल भरना —— यह सब काम माँ को बड़े मुश्किल और झमेले का मालूम पड़ता। उनके मत में दीवट पर रखा तेल का दीया और मिट्टी तेल की कुप्पीवाली चिमनी सबसे [illegible] चीज थी। उसे ठीक-ठाक करके रखने में कोई झमेला [illegible] था। पर लालटेन तो बड़ी मुश्किल की चीज थी, इसलिए वे दूसरों से उसे साफ करा कर रखतीं। जो लड़कियाँ वह कर देतीं, माँ उनकी दक्षता और कौशल की कितनी प्रशंसा

करतीं; कहती, "अरे! वे लोग कितना काम जानती हैं ! देखो कैसे चट से लालटेन को ठीक कर दिया !" माँ भले ही स्वयं पुरानी पीढ़ी की थीं, पर वे लड़कियों के लिए वर्तमान युग के अनुरूप शिक्षा और काम-काज पसन्द करतीं, उसमें वे उन लोगों को उत्साहित करतीं। उन्होंने अपनी छोटी भतीजियों — माकू और राधू — को स्कूल में पढ़ाने की व्यवस्था की थी। इस सम्बन्ध में उत्साह देते हुए वे कहतीं, "लिखना-पढ़ना सीखने से, काम-काज सीखने से स्वयं भी सुखपूर्वक रहेंगी और दूसरों को भी, उनका भला करके, सुखी रख सकेंगी।" उन्होंने स्वयं भी बहुत चेष्टा करके बचपन में और बाद में दक्षिणेश्वर में बँगला पढ़ना सीखा था। उन्होंने अपने एक शिक्षाव्रती शिष्य को इस अंचल में (माँ के देश में) लड़कियों की पढ़ाई तथा उनको काम-काज सिखाने के लिए पहल करने की चेष्टा करने के लिए कहा था। माँ की विशेष कृपापात्र एक महिला सिलाई और धाय का काम सीख बहुतों की सेवा करती थी। माँ के मुँह से इन कामों की प्रशंसा सुनायी पड़ती थी, कभी कभी उस महिला के नाम का भी वे उल्लेख करतीं।

बीच बीच में माँ का एक बालिका के समान मान-अभिमान करना भी शिष्य-सन्तानों के आमोद का कारण बनता। जयरामवाटी में एक दिन रसोई पकानेवाली काम पर नहीं आयी। नलिनी दीदी रोटी सेंक रही थीं और माँ बेल रही थीं। उनके साथ उनका एक शिष्य भी रोटी बेलकर उनकी सहायता कर रहा था। शिष्य रोटी बेलने में कुशल था। नलिनी दीदी लगभग हरदम सास की नाईं माँ को आदेश-उपदेश दिया करतीं। रोटी सेंकते सेंकते वे ऊँचे स्वर से बोल उठीं, "बुआ की रोटी ठीक नहीं हो रही है।" उनकी शिका-

यत सुन माँ के मन में बालिका के समान अभिमान पैदा हुआ। उन्होंने बेलन ठेल दिया और मुँह फुलाकर बोलीं, "लो, सम्हालो अपना रोटी बेलना। मेरी-रोटी यदि अच्छी नहीं बेला रही है, तो अब और नहीं बेलूँगी!" शिष्य मुश्किल में पड़ा, वह 'बालिका' को समझाते हुए रोटी बेलना बन्द न करने के लिए अनुरोध करने लगा और रोटी बेलने के लिए उत्साह देने लगा। माँ कहने लगीं, "मैं सारी जिन्दगी रोटी बेलती आ रही हूँ, और आज मेरी रोटियाँ खराब हो गयीं!" शिष्य ने समझाते हुए कहा, "नहीं माँ, आपकी रोटी खूब अच्छी हो रही हैं। नलिनी दीदी को यह कैसे पता चला कि कौन सी रोटी आपकी बेली हुई है और कौन सी मेरी? दोनों की बेली रोटियाँ तो एक साथ ही रखी हैं। वे व्यर्थ ही आपको दोष दे रही हैं। आपकी रोटियाँ खूब अच्छी ही हो रही हैं।" शिष्य ने बेलन और चकला सामने सरका दिया, बस, त्योंही 'बालिका' का मन प्रसन्न हो गया और दोनों फिर से पहले के समान आपस में बातचीत करते हुए आनन्दपूर्वक रोटी बेलने लगे।

साधारणतः श्री माँ बहुत संकोची स्वभाव की थीं। कोई भी काम करतीं या कोई बात कहतीं, तो बहुत सोच-विचारकर करतीं। फिर उनकी लज्जाशीलता का तो कुछ कहना ही नहीं था। स्वामी अभेदानन्द ने अपने रचे सारदादेवी-स्तोत्र में माँ को 'लज्जापटावृते नित्यं सारदे ज्ञानदायिके' कहा है और उनकी कृपा की भिक्षा चाही है। स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने रचे श्रीरामकृष्ण-स्तोत्र में 'ॐ ह्रीं' कहकर ठाकुर और माँ दोनों के बीजमंत्रों के साथ शक्तिसहित भगवान् की स्तुति की है। ह्रीं-कार लज्जा के बीज के रूप में प्रसिद्ध है। माँ अवश्य ही लज्जास्वरूपिणी थीं, पर उनमें जगज्जननी-

भाव के साथ साथ गुणातीत परमहंस-अवस्था अथवा बालिका का भाव भी स्वाभाविक रूप से विद्यमान था। जिन लोगों को उनके समीप रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे विस्मय से आनन्दित होकर देखते कि जैसे उनमें सदैव चित्त-मन को द्रवित कर लेनेवाला सलज्ज मातृभाव और मातृमूर्ति दिखायी देती, वैसे ही उनमें समय समय पर लज्जाशून्य बालिकामूर्ति और बालिका-भाव के भी दर्शन होते। माँ की एकान्त आश्रित, भक्तिमती वयस्का महिला शिष्याएँ माँ को—अपनी माँ-रूप लड़की को—नितान्त बच्ची की तरह ही देखतीं और उनसे वात्सल्यपूर्ण व्यवहार कर अपने प्राणों को सदैव शीतल करतीं। कभी कभी कोई शिष्य ऐसी अवस्था में पड़ जाने पर भले ही किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता, पर वह परम आनन्द का उपभोग भी करता।

रासविहारी महाराज माँ के विशेष कृपाभाजन थे। वे जयरामवाटी और 'उद्बोधन' में बहुत दिनों तक माँ के श्रीचरणों के समीप रहे और उन्हें माँ के गहरे स्नेह और ममता का परिचय मिला। उनके प्रति माँ के विशेष अनुग्रह की एक घटना का यहाँ पर उल्लेख किया जा सकता है। जयरामवाटी में रहते समय एक बार उनकी मन की शान्ति नष्ट हो गयी। अतः अत्यन्त दुःखित और चिन्तित हो उन्होंने कातर होकर माँ को पकड़ा कि उनके लिए माँ को कुछ करना ही होगा। माँ ने उनके ठाकुर के शरणागत होने की बात कहकर उन्हें बहुत समझाया, सान्त्वना दी, किन्तु उनका मन शान्त न हुआ। वे अतिशय व्याकुल हो माँ से अनुनय-विनय करने लगे। तब अन्त में माँ ने उन पर विशेष कृपा की, फलस्वरूप एक अलौकिक और पहले कभी अनुभव में न आया हो ऐसा भाव और आनन्द उनके मन में छा गया।

उस आनन्द के नशे में दिन कटने लगे। बाहर का संसार सब ठीक ही था, स्नान-भोजन-निद्रा तथा अन्य काम-काज सभी हो रहे थे, पर सब कुछ मानो स्वप्नवत् भास रहा था, लगता था कि आँखों के सामने से चित्र तैरते हुए निकल जा रहे हैं। भीतर में सारे समय एक स्वाभाविक आनन्द की अनुभूति खेलती रहती। बैठना-उठना, चलना-फिरना सब मानो यंत्रवत् चला हुआ था। दो-चार दिन इस प्रकार कटे होंगे कि उनको एक दिन सुबह किसी काम के सिलसिले में पास के गाँव में जाना पड़ा। वहाँ एक व्यक्ति ने उन्हें देख बड़े भक्तिभाव से बैठाया और साधु के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करते हुए उनके पैरों पर अपना सिर रखकर प्रणाम किया। फिर वह उनके दोनों पैरों को उठा अपने सिर, माथे और छाती में विशेष प्रकार से घिसने लगा। उसी समय से रासबिहारी महाराज के मन की वह उच्चावस्था धीरे धीरे दूर होने लगी और दो-तीन दिन बाद ही वे मन की सामान्य अवस्था में आ गये। रासविहारी महाराज विशेष रूप से खेद प्रकट करते हुए कहा करते, "मैं जानता था, उस व्यक्ति का स्वभाव ठीक नहीं है, वह हीन चरित्र का है, किन्तु वह ऐसा कातर हो पैरों पर गिर पड़ा कि मेरा मन एकदम नरम हो गया और मैं अपनी बात न सोच उसके दुःख में ही दुःखी हो गया।" इस प्रकार की महती कृपा का धारण करना बहुत ही कठिन है, पर एक बार जिस आनन्द की अनुभूति हो चुकी है, उसकी स्मृति चिरकाल तक बनी रहती है। हमें तो इस प्रकार का सौभाग्य नहीं मिला, पर माँ की अलौकिक कृपा के सम्बन्ध में एक शिष्य के मुँह से एक घटना सुनने का सौभाग्य अवश्य प्राप्त हुआ था। एक दिन वह शिष्य अश्रु-भरे नेत्रों से, गद्गद कण्ठ से माँ को ही वह घटना सुना

रहा था और माँ भी उसकी 'बात' को बड़े आग्रह के साथ सुन रही थीं तथा 'भाव' को हृदय में ग्रहण कर रही थीं। बीच बीच में 'अहा, अहा' कहकर वे अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त कर रही थीं। वह बता रहा था कि उसका एक प्राण-प्रिय मित्र कुछ दिन पहले बहुत ज्वर में पड़ा था, यहाँ तक कि सन्निपात हो जाने से उसके प्राण जाने की नौबत आ गयी। जिस दिन मित्र की अवस्था चिन्ताजनक हो गयी, उस दिन रात में उसने पूजाघर में प्रवेश कर दरवाजा बन्द कर लिया और मित्र के चंगा होने के लिए माँ के चरणों में अन्तर का दुःख प्रकट करते हुए आँसू बहा-बहाकर आकुल प्रार्थना करने लगा। इस प्रकार कुछ समय बीतने पर वह एक प्रकार की तन्द्रा के वशीभूत हो बाहरी होश खो बैठा। अचानक होश आने पर उसने देखा, माँ ज्योतिर्मय रूप धारण कर सामने खड़ी हैं और अभय और सान्त्वना प्रदान कर रही हैं। उसका हृदय आनन्द से भर उठा, माँ अन्तर्हित हो गयीं। भरोसा पाकर वह मित्र के बाजू में आ सो रहा। दूसरे दिन से मित्र के स्वास्थ्य में सुधार होने लगा और वह शीघ्र ही स्वस्थ हो उठा। आज वह अपने उस मित्र को ले माँ को प्रणाम करने और उनका आशीर्वाद लेने आया हुआ है। उस दिन उस शिष्य के मुँह से वह अद्भुत घटना सुन तथा श्रीमाँ को अत्यन्त उत्सुकता के साथ उसे सुनते और उसका समर्थन करते तथा सहानुभूति और समवेदना प्रकाश करते देख मैं अत्यन्त विस्मित और पुलकित हुआ था।

माँ की अलौकिक विभूति अथवा अतीन्द्रिय अनुभूति के सम्बन्ध में मैंने कभी भी कोई बात नहीं पूछी, जानने की इच्छा भी नहीं हुई। बचपन से मैंने गौड़ीय वैष्णवों की आडम्बर-हीन माधुर्यपूर्ण रागात्मिका भक्ति की बात सुनी थी और

मन पर उसकी छाप पड़ी थी। सम्भवतः इसीलिए इस सम्बन्ध में मेरे मन में कभी कोई कौतूहल का भाव पैदा नहीं हुआ। या फिर यों कह लें कि करुणामयी ने स्वयं ही बुद्धि को उससे दूर रखा था। फिर भी वे कभी कभी कथा-प्रसंग में अति संक्षेप में ऐसी बात कह जातीं, जिससे लगता कि अतीन्द्रिय राज्य उनके निकट स्वाभाविक रूप से ही, हथेली पर रखे आँवले के समान, प्रकट है; अब उन्हें जैसी इच्छा होती है, अपने मन को घुमा रही हैं, चला रही हैं, देख रही हैं, अनुभव कर रही हैं; उनके समक्ष इहलोक-परलोक के स्थूल-सूक्ष्म-कारण जगतों की कोई बाधा नहीं है।

राँची के सुरेन्द्रनाथ सरकार माँ के विशेष भक्त हैं, माँ के पास आये हुए हैं। वे माँ के चरणों में रहनेवाले एक शिष्य के पुण्यों की प्रशंसा करते हुए बोले, "आप लोग बड़े भाग्यवान् हैं, माँ के पास ही रहते हैं।" उनकी बात मेरे अन्तर पर चोट करने लगी —— क्या सचमुच ही हम माँ के पास हैं ! 'पास' शब्द का अर्थ क्या ? यह खोज न पाया। सुरेन्द्र बाबू से मैं विनयपूर्वक बोला, "मैं तो देखता हूँ कि सभी दूर हैं, कोई कम दूर हैं, कोई ज्यादा दूर हैं; आड़ तो बनी ही हुई है।" यह आड़ हरदम के लिए कैसे दूर की जा सकती है ? उसका उपाय क्या है ? माँ को हृदय के अन्तस्तल में अपने भीतर न पा सकने से तो दूरी दूर होगी नहीं, फिर वह व्यक्ति कहीं भी क्यों न रहे। जो लोग भक्तिमान् हैं, वे फिर कहीं भी क्यों न रहें, अपनी आन्तरिक भक्ति के कारण वे सदैव माँ के निकट ही विद्यमान हैं। ऐश्वर्य-बोध भगवान् को दूर कर देता है और अपनत्व-बोध उन्हें निकट ले आता है।

माँ दूसरों के दुःख-शोक की बातें सुनते ही शोकावेग से आकुल हो उठती थीं। उनकी वह शोकाकुल अवस्था देख

देखनेवाले का हृदय भी द्रवित हो जाता था। आकस्मिक मृत्यु का अथवा अन्य प्रकार का कोई दुःसंवाद माँ के अत्यन्त कोमल हृदय को सहज ही मथ देता था। वे अपने को सम्हाल न पाती थीं। जो लोग शोकार्त हो माँ के पास समवेदना-सहानुभूति पाने आते, उनका वह शोक माँ वास्तव में अपने हृदय में खींच लेतीं और स्वयं उस शोक का अनुभव कर उन लोगों का हृदय हल्का कर देतीं —मानो 'विषपान के द्वारा विषहरण' कर लेती हों। अब यहाँ थोड़ा इसका वर्णन करेंगे कि समय समय पर दूसरों का दुःख सुनकर माँ उस शोक के आघात से दुःखी हो कैसे एक असहाय बालिका के समान अधीर हो रुदन किया करतीं।

माँ कोआलपाड़ा के जगदम्बा आश्रम में रह रही थीं। वे तो पाड़ा-पड़ोसी, गरीब-दुःखी, नीच-अछूत सबकी माँ थीं। जो भी समीप आता, उनके दर्शन कर उनकी मीठी बातें सुनता और प्रसाद पाता। माँ के स्नेहपूर्ण व्यवहार से उसके तप्त प्राण शीतल हो जाते। एक विधवा का पुत्र मर गया। वह शोकार्त हो माँ के पास अपना दुःख हल्का करने आयी और बेटे की बात करते करते गला फाड़कर रो पड़ी। उसका शोकावेग माँ अपने भीतर ले स्वयं भी जोरों से रो उठीं। उनका रुदन सुन आश्रम के लोग दौड़े आये। लोग तो देखकर अवाक् रह गये कि माँ पुत्र-शोक में आकुल जननी की ही भाँति उस पुत्रहारा के साथ हृदयविदारक करुण स्वर से रुदन कर रही हैं। ऐसा लगा मानो उन्हें ही पुत्र-वियोग हुआ हो। कुछ समय बाद पुत्रहारा का शोकावेग बहुत-कुछ शान्त हुआ और आँसू पोंछ, माँ को प्रणाम कर, पर्याप्त हल्का हृदय ले उसने माँ से विदा माँगी। माँ ने भी अपने आँसू पोंछे, स्नेह स्निग्ध वाणी से उसे सान्त्वना दी

ग्रौर प्रसाद देकर, 'फिर से ग्राना' कहकर विदा दी। स्मरण ग्राता है माँ ने उसे एक नयी साड़ी भी दी थी।

दुःख की घटना सुनते ही माँ का कोमल मन ग्रधीर हो उठता था। पहला महायुद्ध चल रहा था, तब भयानक रूप से वस्त्राभाव था. ग्रौरतों के लिए ग्रपनी लज्जा को ढांक रखना कठिन हो रहा था। माँ के एक शिष्य विभूति बाबू ने एक दिन ग्राकर बताया कि वे विष्णुपुर में माँ के एक भक्त शिष्य स्व० सुरेश बाबू के घर पर गये थे। सुरेश्वर बाबू की युवती कन्या ने कमरे के भीतर से कहा, "काका, यहीं से प्रणाम कर रही हूँ। पहनने के वस्त्र की हालत ऐसी है कि बाहर ग्राकर ग्रापको प्रणाम नहीं कर सकूँगी।" यह सुन विभूति बाबू ने ग्रपनी चादर कमरे के भीतर फेंक दी। उसको शरीर से लपेट लड़की बाहर ग्रायी ग्रौर प्रणाम कर गयी। यह सुनकर माँ की ग्राँखों से ग्राँसुग्रों की धार बह चली। इसके बाद ही मुहल्ले का एक व्यक्ति एक ग्रखबार लेकर ग्राया ग्रौर माँ को पढ़कर सुनाने लगा — कहीं कहीं पर कपड़े के ग्रभाव में ग्रपनी लज्जा को ढाँकने में ग्रसमर्थ हो ग्रौरतों ने ग्रात्महत्या कर ली है। इन सब हृदयविदारक घटनाग्रों की बात सोच सोच माँ रोने लगीं, पहले तो सुबक-सुबककर रोती रहीं, फिर एकदम बालिका के समान ग्रधीर हो गला फाड़कर रोने लगीं — "पहनने के कपड़े न मिलें, तो लड़कियाँ क्या करेंगी! लज्जा-शर्म बचाने के लिए फिर ग्रात्महत्या के छोड़ ग्रौर क्या उपाय रह जायगा!" — ऐसा कहती रहीं ग्रौर व्याकुल हो रोती रहीं। ग्रबोध बालिका को समझाने के लिए कोई भाषा ढूँढ़े नहीं मिलती थी। जिन लोगों ने भी उनकी वह शोकार्त वाणी सुनी, उनके भी मुख विषण्ण हो गये ग्रौर हृदय वेदना के बोझ से दब गये। समस्त भारत की नारियों के वस्त्रा-

भाव का दुःख माँ के हृदय में पुंजीभूत हो आर्ति के रूप में प्रकाशित होने लगा। जिन्होंने उनका वह रोदन सुना, वे भी अपनी असहाय दुरवस्था की बात सोचने लगे। माँ यह विचार कर कि अँगरेज शासकों के कारण ही यह दुर्दिन आया है, अधीर हो बारम्बार कहने लगीं, "वे लोग (अँगरेज) कब जाएँगे जी, वे लोग कब जाएँगे!" अँगरेज कब हमारे देश को छोड़कर जाएँगे, कब वह शुभ दिन आएगा -- माँ व्यग्र हो बारम्बार यही पूछने लगीं। श्रोतागण मौन हो सुनने लगे, माँ के हृदय की व्याकुलता देखने लगे। फिर अपने को थोड़ा सम्हालकर माँ अफसोस प्रकट करने लगीं -- देशवासियों ने अपने चरखे में सूत कातना और कपड़े बुनने का काम छोड़ दिया, इसीलिए आज यह दुःख-कष्ट है। वे कहने लगीं, "कम्पनी (अँगरेज सरकार) ने सुख दिखा दिया -- रुपये में दो जोड़ी धोती, उस पर एक और पुरौनी में। घर घर में चरखा था, सब अब उठ गया। सस्ते में कपड़े पा सब बाबू बन गये, अब सब बाबू काबू में हो गये हैं!"

पुलिस सिन्धुबाला नाम की गर्भवती युवती को पकड़कर ले गयी थी और उसका तरह तरह से अपमान किया था, यह समाचार पाकर भी माँ बड़ी अधीर हो उठी थीं और रो पड़ी थीं। उन्होंने अँगरेज-राज के खत्म होने की कामना की थी और यह मत व्यक्त किया था कि इन सब अत्याचारों का प्रतिकार होना चाहिए। उन्होंने इन सबके प्रतिरोध में देशवासियों के उद्यम को आवश्यक बताते हुए उसकी प्रशंसा की थी। माँ के बाल्यकाल में अँगरेजों के, विशेषकर विक्टोरिया के, हाथ में राज्य-शासन आ जाने के बाद से देश में कुछ सुव्यवस्था आयी थी, इसलिए देशवासियों के मन में अँगरेजों के प्रति काफी श्रद्धा-विश्वास का भाव विद्यमान था। किन्तु

अँगरेजों के आर्थिक शोषण से देश की दुःख-दुर्दशा दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। फलस्वरूप लोगों का विश्वास अँगरेजों पर से हटने लगा और देशवासी इस शोषण का विरोध करने लगे। इससे शासकवर्ग देशवासियों से रुष्ट हो गया और अपना दमन-चक्र चलाने लगा। माँ ने अपनी आँखों से ऐसी कई घटनाएँ देखी थीं, अपने कान से बहुत कुछ सुना था। इसलिए वे अत्यन्त दुःखित चित्त से अँगरेजी शासन के खात्मे की कामना किया करतीं। अन्यथा अँगरेज जाति अथवा उसके धर्म-सम्प्रदाय के प्रति कभी माँ के मन में विद्वेष का भाव नहीं देखा गया, बल्कि वे उन लोगों को भी अपनी ही सन्तान के रूप में देखतीं। उनके कृपा-पात्र जो भी अँगरेज और ईसाई लोग थे, वे उनको समान रूप से स्नेह-ममता प्राप्त करते थे।

दूसरों की मनोवेदना माँ के हृदय में कितनी गहराई तक प्रवेश करती, इसका और एक उदाहरण उल्लेख-योग्य है। माँ के एक शिष्य लेखक थे। उन्होंने अपना लिखा 'ध्रुव-चरित' माँ के पास भेजा। पुस्तक पा माँ प्रसन्न हुईं और उसे सुनना चाहा। इसलिए एक दिन सन्ध्या के बाद पुस्तक का पढ़ना तय हुआ। बरामदे में चटाई बिछा माँ सुनने के लिए बैठीं। साथ में घर की दूसरी महिलाएँ भी बैठीं। एक लड़का कुछ दूर में अलग से आसन बिछा, उस पर बैठ पुस्तक को पढ़ रहा था। उसने कुछ पृष्ठ पढ़े थे और सभी आनन्दपूर्वक सुन रहे थे कि इतने में एक ऐसा प्रसंग आया, जहाँ विषाद की एक घटना का वर्णन था। राजा उत्तानपाद सिंहासन पर बैठे हुए हैं, अपनी प्रेयसी सुरुचि के लड़के को गोद में उठा लाड़-प्यार कर रहे हैं, यह देख सुरुचि की सौत सुनीति का पुत्र ध्रुव भी पिता की गोद में उठने के लिए मचलने लगा। सुरुचि ध्रुव की भर्त्सना करते हुए कहने लगी,

"दुस्साहसी लड़के, यदि राजा की गोद में उठने की इतनी साध है, तो फिर से सुरुचि के गर्भ में आ जन्म लो।" स्त्रैण राजा सुरुचि के डर से ध्रुव को गोद में उठाने का साहस न कर सका। ध्रुव अपमान से आहत हो रोने लगा। इस मर्म-स्पर्शी घटना को सुन माँ भी रोने लगीं। पुस्तक पढ़नेवाला थोड़ा रुक गया। माँ शान्त हुईं और अपने आँसू पोंछे। फिर से पाठ शुरू हुआ। पुनः दुःख की गाथा आयी — पाँच साल का लड़का ध्रुव तपस्या के द्वारा श्रीहरि को प्रसन्न करने वन जाने को उद्यत हुआ। सुनीति अब तक अपने इकलौते लड़के का मुँह देखकर ही जीवित थीं। अब वही लड़का माँ को छोड़ वन जाना चाहता है। सुनीति ने कितना समझाया, पर ध्रुव किसी प्रकार न माना। सुनीति के दुःख की गाथा सुन माँ का हृदय पिघल गया, उन्हें लगा कि वे ही मानो सुनीति हैं, पुत्र को वन में भेजते उनके प्राण फटे जा रहे हैं, रो-रोकर बेहाल हो रही हैं। पढ़नेवाला और श्रोता दोनों अवाक् हो एकटक माँ के इस अद्भुत शोकावेग को देखने लगे। कुछ समय बाद माँ जब शान्त हुईं, तो वाचन फिर से चलने लगा। ध्रुव अकेले ही वन के रास्ते निकल पड़ा। श्रीमाँ की आँखों से आँसू झरने लगे। दुर्गम वनपथ में जाते हुए ध्रुव को ईश्वर की कृपा से नाना प्रकार की सहायता के मिलने का जब प्रसंग आया, तो माँ आनन्दित हुईं और उनके मुख पर हँसी खेल गयी। बाद में जब नारद के प्रकट होने और उनका ध्रुव को उपदेश देने का प्रसंग आया, तो माँ और भी आनन्दित हुईं तथा उल्लसित स्वर से सबसे कहने लगीं, "देखो, देखो, भगवान् की करुणा देखो ! उनको जो चाहते हैं, उन लोगों की वे किस प्रकार सहायता करते हैं !" पाठ आगे बढ़ा। ध्रुव की कठोर तपस्या की बात आयी; भयंकर हिंस्र पशुओं

से भरे दुर्गम वन की विभीषिका का वर्णन आया। बालक ध्रुव का चित्त भय से काँप रहा है, असहाय अकेला बालक रो रहा है। इस हृदयविदारक दृश्य का वर्णन सुनते ही माँ का हृदय विगलित होने लगा। ध्रुव को स्वयं अपनी सन्तान, अपनी गोद का शिशु मान वे जोरों से रो उठीं। बहुत प्रयत्न करके उन्होंने अपने को संवरित किया। फिर से पढ़ना शुरू हुआ। पर दूसरे ही क्षण माँ ध्रुव का स्मरण कर फिर से आकुल हो गयीं और रुदन करने लगीं। धीरे धीरे वे और भी व्याकुल हो गयीं, उनके मन-प्राण उस घोर वन में उस गहरी रात में मानो ध्रुव की रक्षा के लिए छूट चले हों। पाठक और श्रोता सब यह देख निस्तब्ध हो गये और कुछ देर तक यह अद्भुत शोकोच्छ्वास देख चुपचाप उठ-उठकर चले गये। पुस्तक का पठन और हुआ नहीं। सबके हृदय शोक से घिर गये। किसके लिए? कौन बता सकता है?

(क्रमशः)

●

तुम लोग सौभाग्यशाली हो कि तुम्हें यह मानव-शरीर मिला है। जितना अधिक हो सके भगवान् का भजन करो। तुम्हें कठोर परिश्रम करना होगा। बिना परिश्रम के कुछ भी प्राप्त करना कठिन है। प्रतिदिन कुछ समय प्रार्थना और साधना के लिए निश्चित कर लेना चाहिए, भले ही कोई सांसारिक कार्यों में बहुत व्यस्त हो।

—श्री माँ सारदा देवी।

स्वामी अखण्डानन्द

स्वामी ज्ञानात्मानन्द

श्री ठाकुर के जिन पार्षदों के साथ थोड़ा-बहुत मिलने का हमें सौभाग्य मिला था, उनमें श्रीमत् स्वामी अखण्डानन्द जी अन्यतम थे। जब हमने मठ में प्रवेश लिया, तब वे सारगाछी में (मुर्शिदाबाद में) अपने छोटे अनाथाश्रम को लेकर व्यस्त थे। हम लोग उस समय भी उनकी हृदयवत्ता और कर्मपरायणता की बात सुना करते और यह भी सुनते कि एक प्रकार से ईश्वरादिष्ट हो उन्होंने मुर्शिदाबाद के अन्तर्गत सारगाछी में इस छोटे से आश्रम की प्रतिष्ठा की है। वहाँ कुछ अनाथ बालक रहते थे। वहाँ पर वे उन अनाथ बच्चों के माता, पिता, बन्धु और सखा सब कुछ थे। यह आश्रम स्वामी विवेकानन्दजी के कर्मयोग के आदर्श का पहला रूपायन था। उन्होंने (गंगाधर महाराज या अखण्डानन्द स्वामी ने) परिव्राजक-अवस्था में भारत के, यहाँ तक कि तिब्बत के भी, अनेक स्थानों में भ्रमण किया था। वे जहाँ भी जाते, दरिद्रों की असहाय अवस्था देख मर्मान्तिक पीड़ा का अनुभव करते और स्थानीय लोगों की सहायता से सब प्रकार से प्रयत्न करते, जिससे उन असहायों के दुःख-कष्टों का तनिक भी मोचन हो सके।

उनकी सरलता का मठ में कई बार प्रत्यक्ष परिचय पाकर हम लोग धन्य हुए थे। वे जब भी मठ आते, दो-चार दिन बाद ही सारगाछी आश्रम लौट जाने को व्यग्र हो उठते। उनके मठ आने पर श्री महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) उन्हें लेकर तरह तरह से विनोद करते, और जब भी सार-

गाछी लौट जाने के लिए उनकी इस प्रकार व्याकुलता देखते, उनसे कहते, "वहाँ जाकर क्या होगा, गंगा ? वहाँ तो बस, माँ-बाप के खेदे हुए कुछ नंग-धड़ंग लड़कों को ही तो लेकर हो। यहाँ कितने साधु-ब्रह्मचारी आ रहे हैं। उन्हें लेकर क्यों नहीं रहते और उन्हें शिक्षा आदि क्यों नहीं देते ?" गंगाधर महाराज यह समझ न पाते कि वह श्री महाराज के मन की बात नहीं है, इसलिए और भी आकुल होकर कहते, "न, न, महाराज, तुम समझ नहीं रहे हो, मैं न जाऊँ तो इन लड़कों को बड़ा कष्ट होगा।" श्री महाराज भी अपनी उसी पुरानी बात को दुहराते और इधर गंगाधर महाराज भी व्याकुल से व्याकुलतर होते जाते। अन्त में जब वे मठ में पुनः शीघ्र आने का आश्वासन देते, तभी श्री महाराज से उन्हें छुट्टी मिलती।

उनकी सरलता को लेकर श्री महाराज और उनके अन्यान्य गुरुभाईगण बहुत कौतुक करते और हम लोग उनकी यह देवदुर्लभ सरलता देख मुग्ध होते। हममें से अनेक वह कौशल जानते थे, जिससे उनकी प्रस्तावित यात्रा को रोका जा सकता था। बस, इतना कहना ही पर्याप्त था कि "महाराज, अपनी 'तिब्बत-भ्रमण की कहानी' यदि हम लोगों को एक बार और सुना दें, तो बड़ा अच्छा हो।" बस, देवदुर्लभ सरल वृद्ध बैठ जाते और घण्टे पर घण्टे अपनी वह रोमांचक भ्रमण-कहानी सुनाते रहते। उस समय वे यह भूल जाते थे कि उनकी ट्रेन के छूटने का समय पास आ रहा है और यह भी कि उन्हें स्टेशन ले जानेवाली गाड़ी तैयार खड़ी है। वह भ्रमण-कहानी बताकर जब वे स्टेशन पहुँचते, तब प्रायः ही देखा जाता कि उनकी ट्रेन कम से कम आधा घण्टा पहले ही रवाना हो चुकी है। इस प्रकार सम्भव है लगातार कई दिन तक उनकी गाड़ी को फेल करना पड़ता और भक्तगण उन्हें पुनः

पाकर बड़े ही आनन्दित होते ।

उनके इस सरल व्यवहार का परिचय सौभाग्य से मुझे भी कुछ मिला था। उसका यहाँ पर वर्णन करता हूँ। बहुत सम्भव वह १९२१ या १९२२ की घटना होगी। पूजनीय अभेदानन्दजी अमेरिका से लौटकर कुछ दिनों के लिए बलरामबाबू के मकान में (बलराम-मन्दिर में) रह रहे थे। मैं भी उनके सेवक के रूप में वहाँ था। इसी बीच एक दिन पूजनीय गंगाधर महाराज भी उनसे मिलने वहाँ आये। उसी समय किसी कार्य के उपलक्ष में स्वामी विशुद्धानन्दजी और स्वामी निर्वाणानन्दजी भी वहाँ आ पहुँचे। उन दोनों ने गंगाधर महाराज को देखते ही पकड़ा और कहने लगे—आज बहुत दिनों के बाद आपको पा सके हैं, आज आपको हम लोगों के साथ थोड़ा ताश खेलना होगा, आप बहुत दिन से हमारे साथ ताश नहीं खेले हैं। पहले तो उन्होंने ना-ना किया, पर बाद में राजी हो गये। किन्तु अब चौथा साथी उन्हें कहाँ मिले ? मुझे सामने देखते ही बड़े स्नेह से बुलाकर कहा, "आओ, आओ, तुम मेरी ओर से खेलना, वे दोनों दूसरी ओर से खेलेंगे।" इस पर मैंने उनसे कहा, "महाराज, मैंने तो बचपन में बस विण्ट ही खेला था, अब तक तो वह भी भूल चुका हूँ।" पर वे छोड़नेवाले नहीं थे, बोले, "उससे ही होगा, तुम मेरी ओर आकर बैठ जाओ।" परिणाम जो होना था, वही हुआ। हम लोग लगातार हारने लगे। महाराज हर बार ही कहते, "ऊँह, लगता है यह कुछ भी नहीं जानता।" मैं उसके उत्तर में विनयपूर्वक हर बार यही कहता, "महाराज, मैंने तो यह पहले ही बता दिया था।" पर फिर भी वृद्ध छोड़नेवाले नहीं थे। अन्त में छक्का-पंजा दोनों ही हम लोगों पर पड़ा। इतने में एक भक्त के आने से महाराज ने

मुझसे कहा, "अब तुम उठो, वह मेरी ओर बैठेगा।" मैंने भी स्वस्ति को साँस ली। मैं दरवाजे के पास गया ही हूँगा कि उन्होंने हाथ हिलाकर मुझे बुलाया और कहा, "जाओ मत, बल्कि मेरे पीछे बैठो और मुझे बताते जाओ कब कौन सी पत्ती चलनी है।" फल निकलते देर न लगी। हम लोग बुरी तरह हार गये। इधर महाराज के मुँह पर एक ही बात थी--- "देखता हूँ यह लड़का कुछ भी नहीं जानता।" मैंने भी मन ही मन हँसकर कहा, "महाराज, वह तो मैंने कई बार कहा है।" ऐसी थी उनकी बालसुलभ सरलता, जिसे देख हम लोग मुग्ध हो जाते थे।

और एक दिन की बात है। तब महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) बहुत अस्वस्थ थे। दमे से बड़ा ही कष्ट पा रहे थे। उनकी इस अस्वस्थता का समाचार मठ-मिशन के विभिन्न केन्द्रों में भेजा गया। समाचार पाते ही पूजनीय गंगाधर महाराज बेलुड़ मठ में आ उपस्थित हुए और महापुरुष महाराज के कमरे में जा एकदम रुँआसे स्वर में कहने लगे, "दादा, दादा, आपने अपने शरीर को ऐसा कैसे बना लिया? आपके चले जाने पर हम लोग किसको लेकर रहेंगे?" इत्यादि। पूजनीय महाराज उनके बालक-स्वभाव को जानते थे, वे धीरे धीरे कहने लगे, "बैठ, बैठ, तेरी वहाँ की खबर क्या है बता।" बस, त्योंही उन्होंने वहाँ की खेती आदि की बात बताना शुरू कर दिया और बोले, "दादा, क्या बताऊँ, इस बार वहाँ जो परवल हुआ, उसकी मात्रा होगी कुछेक मन। सोचा कि कोई चुराकर न ले जाय, इसलिए खेत के बीच में एक झोपड़ी बना ली थी, पर दादा, छाती पर घर कोई कैसे सहे? बस, देखते देखते परवल के सारे पौधे सूख गये। छाती पर घर था न, इसलिए।" दादा ने भी कहा, "तू ठीक

कहता है।" हम लोग भी इन दोनों देवतुल्य भाइयों का वार्तालाप सुन मन ही मन बड़े आनन्द का अनुभव करने लगे।

ऐसी थी उनकी बालसुलभ सरलता। पर उनकी इस अद्भुत सरलता के साथ हम लोगों ने उनके मन में देश के मंगल के लिए उत्कट कामना और उनकी अद्भुत दूरदृष्टि का जो परिचय पाया था, उसका भी उल्लेख करना आवश्यक मानता हूँ। हम लोग तब उनकी बहुत सी बातें समझ नहीं सके थे, पर जब उन बातों का परिणाम देखने को मिला, तब हम लोगों ने समझा था कि इस वृद्ध की दूरदृष्टि कैसी अचूक है तथा देश के प्रति मंगलकामना में कितनी उत्कटता है।

एक दिन वे हाँफते हाँफते मठ में लौटे और हम लोगों से बोले, "देखो, आज मैं पैदल बैरकपुर में सुरेन बाबू (सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी) के घर गया था। वहाँ बड़ी कठिनाई से उनसे भेंट हुई। तब उनसे बोला, 'आप लोग यह काँग्रेस को कैसा चला रहे हैं! देश का मंगल चाहते हैं, तो गाँवों में जाना होगा। वहाँ हजार हजार ग्रामवासी रहते हैं, जो आप लोगों की कोई भी बात नहीं जानते। आप लोग तो केवल शहर में बैठकर काँग्रेस की चर्चा आदि करते हैं। इससे इन सब निरक्षर ग्रामवासियों का भला क्या उपकार होगा? आप लोग गाँव में जाकर काँग्रेस का अधिवेशन क्यों नहीं करते? फिर, काँग्रेस के अध्यक्ष को बड़ी बड़ी गाड़ी में बिठाकर, इतनी साज-सज्जा के साथ आप लोग अधिवेशन के मंच पर क्यों ले जाते हैं? गाँवों के दरिद्रों के साथ एक हो जाइए। गाँव में ही काँग्रेस का अधिवेशन कीजिए और काँग्रेसाध्यक्ष को बैलगाड़ी में चढ़ाकर ले जाइए, जिससे ग्रामवासी यह समझ सकें कि यह अधिवेशन उनका ही है तथा काँग्रेसाध्यक्ष उनके

अपने ही आदमी हैं'।" इसके उत्तर में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी महाशय ने क्या कहा था, यह तो हमें ज्ञात नहीं, परन्तु इसके कुछ वर्ष बाद जब महात्मा गाँधी का आन्दोलन शुरू हुआ और कांग्रेस का एक अधिवेशन गाँव में हुआ तथा काँग्रेसाध्यक्ष को बैलगाड़ी में ले जाया गया, तो वृद्ध की बातें मानस-पटल पर उभर आयीं और तब उनकी बातों की सारवत्ता तथा उनकी दूर-दृष्टि को हम लोग समझ पाये।

एक अन्य दिन इसी प्रकार हाँफते हाँफते वे मठ में आये और बोले, "देखो, आज कलकत्ते में आशुबाबू (सर आशुतोष मुखोपाध्याय) के घर गया था। वहाँ देखा उनका कमरा किताबों से भरा है, एक के ऊपर एक सजी हैं। उनमें से अधिकांश अँगरेजी भाषा की थीं। (वे तब कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति थे।) बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद उनसे भेंट हो पायी। उनसे मैंने कहा, 'आप तो अब कलकत्ता विश्वविद्यालय के कर्णधार हैं। आप वहाँ संस्कृत भाषा का प्रचलन क्यों नहीं करते ? संस्कृत ही तो हमारे राष्ट्र का मेरुदण्ड है'।"

उस समय आशुबाबू उनके इस कथन की सारवत्ता कितना क्या समझ सके थे यह तो पता नहीं, पर कुछ वर्ष बाद जब हम लोगों ने लार्ड रोनाल्डशे की 'हार्ट ऑफ आर्यावर्त' नामक पुस्तक प्रकाशित होने पर पढ़ी, तो हमने अचरज से देखा कि इतने दिनों बाद अब वृद्ध की वाणी सफल होने जा रही है। पुस्तक में रोनाल्डशे लिखते हैं, "आज यदि मैकाले कलकत्ता आते और कलकत्ता विश्वविद्यालय को देखते, तो समझ पाते कि जिस भाषा (संस्कृत) को उन्होंने कभी अवज्ञा के स्वर में मृत भाषा कहा था और व्यंग्य किया था कि उसकी (संस्कृत भाषा की) सारी पुस्तकों के

लिए हमारे किसी भी ग्रन्थालय की एक आलमारी ही पर्याप्त होगी," आज कलकत्ता विश्वविद्यालय के १२ विभिन्न विभागों में उसी भाषा की पढ़ाई हो रही है।

यह पढ़कर हमें लगा था कि उस भावप्रवण सरल वृद्ध संन्यासी ने उस दिन आशुबाबू के साथ जो बात की थी, आज वही यथार्थ में परिणत हुई जा रही है।

इसी प्रकार श्री ठाकुर के शिष्यों ने उनके सन्देश का प्रचार, लोकदृष्टि से दूर रहकर, कितने रूपों में और कहाँ कहाँ किया था, यह कौन बता सकता है? हमने उन लोगों का मात्र बाहर ही देखा है। भीतर पैठने की पात्रता कहाँ है? श्री ठाकुर हमें वह ठीक-ठीक समझने की शक्ति दें, यही प्रार्थना है।

●

रामकृष्ण भगवान

ब्रह्मचारी श्रीधरचैतन्य

(पीलू – कहरवा)

तुम त्रिभुवन के आधार हो
(प्रभु) रामकृष्ण भगवान।
जड़-चेतन में जग-जीवन में
तुम ही विराजमान ।।ध्रुव।।

आत्मनाथ तुम अज अविनाशी, घट घट अन्तरवासी।
हरने आये भव-दुःख-सकट, सकल मोह-अज्ञान ।।१।।
दीनबन्धु मम चित में आओ, मधुर रूप दरसाओ।
भक्त हृदय की प्यास बुझाओ, करो कृपामृत दान ।।२।।

●

नाता

श्रीमती आशा उपाध्याय, राजकोट

प्रभु, तुमसे मेरा नाता
क्या है यह तो तुम्हीं बता दो ।
कोई समझ न पाता ॥ प्रभु, तुमसे ०॥

मैं छोटीसी बूँद उदधि की,
तुम करुणा के सागर,
मुक्ता बन जाऊँगी सचमुच
नाथ, तुम्हें मैं पाकर ।
पर यह पाना ही कब होगा
यही समझ ना आता ॥ प्रभु, तुमसे ०॥१॥

पाने पावन स्पर्श तुम्हारा
बिखर गयी पथ पर, बन रजकण ।
कैसे, कब, निकलोगे किस पथ
निशिदिन मन में रहती उलझन ।
नाथ, मुझे भी अपना लो, तुम
तो हो जग के त्राता ॥ प्रभु, तुमसे ०॥२॥

पड़े हुए हैं शरण तुम्हारी,
तुम दीनानाथ कहाते ।
भले बुरे जैसे भी हैं, क्यों
तुम तक पहुँच न पाते ।
केवल माँगें भीख दया की,
तुम तो सबके दाता ॥ प्रभु, तुमसे०॥३॥

●

कुणप-अभिमान सागर दुस्तर अपारं

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने दिल्ली में २४ मार्च, १९७४ को जो प्रवचन दिया था, वही यहाँ पर प्रस्तुत लेख के रूप में प्रकाशित हो रहा है। टेपबद्ध प्रवचन के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री नन्दकिशोर स्वर्णकार ने किया है, जो दिल्ली की सालिड स्टेट फिजिक्स लेबोरेटरी में कार्यरत हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। —स०)

सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं॥ ६/४

लंका पर अभियान के लिए भगवान् श्रीराम समुद्र-तट पर विराजमान हैं। बन्दरों की विशाल वाहिनी प्रभु के साथ इस युद्ध में भाग लेने के लिए लंका की ओर जाना चाहती है। लंका और भारत के बीच एक विशाल समुद्र है। समस्या यह है कि इस समुद्र को कैसे पार किया जाय। जैसे यह समस्या भौतिक जगत् में विद्यमान रहती है, वैसे ही आध्यात्मिक जगत् में भी। समस्या का रूप यही है कि व्यक्ति दूरी को मिटाकर संघर्ष पर कैसे विजय प्राप्त कर सकता है? गोस्वामीजी ने 'विनयपत्रिका' में इसका एक आध्यात्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं—

कुणप-अभिमान सागर भयंकर घोर,
विपुल अवगाह, दुस्तर अपारं।
नक्र-रागादि-संकुल मनोरथ सकल,
संग-संकल्प वीचि विकारं॥५८/३

—'देहाभिमान अत्यन्त भयंकर, अथाह, अपार, दुस्तर समुद्र है, जिसमें राग-द्वेष और कामना आदि अनेक घड़ियाल भरे हैं और आसक्ति तथा संकल्पों की लहरें उठ रही हैं।' तात्पर्य यह कि शरीर देखने में भले ही इतना छोटा सा हो, पर इसके भीतर जो अभिमान है, वह अपार है। शरीर को तो नापा जा सकता है, पर उसके भीतर व्यक्ति का जो अभिमान है, व्यक्ति ने अपने आपको शरीर कैसे मान लिया इसका जो इतिहास है, उसे नापना बड़ा कठिन है।

'रामचरितमानस' में आप पढ़ते ही हैं कि बन्दरों का यह अभियान पहली बार नहीं हो रहा है। इसके पहले भी श्री हनुमान, अंगद, नील, जाम्बवान् आदि सबके सब श्री किशोरीजी की खोज में चले थे और उनकी यात्रा समुद्र के किनारे आकर रुक गयी थी। एकमात्र श्री हनुमान्‌जी को छोड़ और किसी बन्दर में यह साहस नहीं था कि वह इस समुद्र को पार करके जाय और श्री जानकीजी के समाचार लेकर वापस आ जाय। उस समय एक घटना के माध्यम से सुन्दर संकेत प्राप्त होता है। सारे बन्दर समुद्र के किनारे निराश होकर अपने शरीर के परित्याग का संकल्प लेते हैं और कुश का आसन बिछा अनशन करते हुए बैठ जाते हैं—

अस कहि लवन सिंधु तट जाई।
बैठे कपि सब दर्भ डसाई ॥४/२५/१०

प्रभु बड़े कौतुकी हैं। वे बन्दरों को बताना चाहते थे कि तुम लोग जो सोच रहे हो कि अपने शरीर का परित्याग कर सकते हो, वह सत्य नहीं है। यह तो तुम्हारे अन्तःकरण की निराशा के कारण क्षण भर के लिए उत्पन्न वृत्ति है, शरीर के त्याग की वह कोई सुविचारित भावना नहीं है। जरा परीक्षा करके देख लो कि तुममें शरीर के प्रति ममता का कितना

भाव है ।

और वह परीक्षा हो भी गयी । बन्दरों को एक गीध का स्वर सुनायी दे गया, जो कह रहा था—जब एक साथ इतने लोग शरीर का त्याग करेंगे, तो मुझे भोजन खूब मिलेगा और मेरी भूख की समस्या समाप्त हो जायगी । गोस्वामीजी कहते हैं कि इस वाक्य को सुनते ही देहत्याग का संकल्प ले अनशन करनेवाले बन्दर डर के मारे काँपने लगे— "डरपे गीध बचन सुनि काना" (४/२६/५) । इससे एक गूढ़ संकेत हमें यह प्राप्त होता है कि साधक कभी कभी अपने मन को स्वयं नहीं पहचान पाता, अपनी कमियों को नहीं देख पाता । तो, ऐसे समय ईश्वर की साधक पर सबसे बड़ी कृपा यही हो सकती है कि वह उसे यह बता दे कि तुममें ये कमियाँ विद्यमान हैं ।

बन्दरों के ही समान अयोध्यावासी भी एक समुद्र के किनारे रुक गये थे । वह भौतिक समुद्र तो नहीं था, पर जिस समुद्र की चर्चा गोस्वामीजी ने 'विनय-पत्रिका' में की है, वह वहाँ पर भी था । गोस्वामीजी कहते हैं कि अयोध्या-वासियों में प्रभु के साथ चलने की बड़ी तीव्र उमंग है, प्रभु के लौटाने पर भी नहीं लौटते, लेकिन बीच में समुद्र आ गया, तो रुक गये । वह समुद्र क्या था? गोस्वामीजी कहते हैं— "लोग सोग श्रम बस गए सोई" (२/८४/६) —लोगों को नींद आ गयी । और नींद तो देह का ही धर्म है । वह देहाभि-मान का समुद्र ही तो है । प्रभु इतने पास थे, फिर भी अयोध्या-वासी बीच में इस समुद्र के आ जाने से उनसे बिछुड़ गये । वहाँ पर भी प्रभु अयोध्यावासियों को उनकी कमी बता देना चाहते हैं । पहले तो वे उन लोगों को समझाते हैं कि कष्ट न कीजिए, वापस लौट जाइए, पर वे लोग मानते नहीं,

कहते हैं— वाह, आपको छोड़कर हमें भला और क्या चाहिए ? अयोध्यावासियों के मन में कहीं न कहीं यह सात्त्विक अभिमान छिपा हुआ है कि हम तो अपना सब कुछ छोड़कर आपके साथ जाने के लिए व्यग्र हैं और आप हमें लौटाना चाहते हैं! तो प्रभु बताना चाहते हैं कि क्या सचमुच तुम लोगों ने सब कुछ छोड़ दिया ? कहाँ , नींद तो तुमने नहीं छोड़ी ? प्रभु का तात्पर्य यह था कि तुम लोगों ने पलंग तो छोड़ दिया, पर नींद साथ लेते आये, चाहिए था कि तुम नींद भी पलंग के साथ ही छोड़कर आते ।

अभिप्राय यह है कि भले ही व्यक्ति कोई वस्तु छोड़ दे, पर जब तक शरीर-बोध बना हुआ है, तब तक उसका कोई वस्तु छोड़ देना कोई अर्थ नहीं रखता; क्योंकि वस्तु का सारा केन्द्र शरीर ही है । जब तक यह शरीर है तब तक सारी वस्तुएँ आकर आपसे जुड़ती रहेंगी, फिर भले ही आप वन में ही क्यों न चले जायँ। आप भोजन के पदार्थ भले ही छोड़कर चले जायँ, पर भूख साथ रहेगी । आप पलग भले ही छोड़ जायँ , पर नींद साथ रहेगी । इसका कारण यह है कि इन सबका केन्द्र—शरीर—साथ में है ।

कथा आती है कि एक सज्जन दुर्गन्धयुक्त मोजा पहने हुए थे, जिससे वे जहाँ भी जाते, दुर्गन्ध फैल जाती । उनका ध्यान जब इस ओर खींचा गया, तो उन्होंने कहा— ठीक है, मोजा निकाल लेते हैं । और उन्होंने मोजा निकाल अपनी जेब में रख लिया और घूमने लगे। पर क्या इससे समस्या का समाधान हुआ ? वे समझ नहीं पाए कि मोजे को जेब में रखने से उन्होंने दुर्गन्धि के केन्द्र को और भी पास बुला लिया है । तो, इसका अभिप्राय यही है कि जब तक केन्द्र ज्यों का त्यों बना हुआ है, तब तक समस्या समाप्त नहीं होगी ।

अयोध्यावासियों के लिए भी शरीर के प्रति ममता, शरीर के प्रति राग, शरीर के प्रति आकर्षण ही बाधक बन गया, वे इस देहाभिमान के समुद्र को पार नहीं कर पाये और इसलिए प्रभु के साथ जा नहीं पाये।

आज बन्दरों के सामने भी यही समस्या है। जब खोज के लिए वे चले थे, तब उनमें बड़ा उत्साह था। गोस्वामीजी लिखते हैं—

चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह।
राम काज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह॥ ४/२३

—भगवान् राम के कार्य में उनका मन इतना संलग्न हो गया कि उन्हें शरीर का छोह बिसर गया। यहाँ पर 'बिसरा' शब्द में ही सारी कुंजी निहित है। तात्पर्य यह कि देह का छोह 'नष्ट' नहीं हुआ, केवल 'बिसर' गया। और बिसरी हुई वस्तु याद आ जाती है। किसी वस्तु का नष्ट हो जाना और बात है और किसी का बिसर जाना और बात। उत्साह के अतिरेक में कुछ समय के लिए बात भूल गयी थी, पर जब प्यास लगी, वन में मार्ग भूल गये, तब फिर से शरीर-धर्म धीरे धीरे जागृत हुआ। हनुमान्‌जी के द्वारा इस समस्या का समाधान हुआ। उन्होंने प्यासे बन्दरों को जल पिलाकर तृप्त किया। उसके पश्चात् बन्दर पुनः आगे चले। पर अब फिर से बन्दर वही भूल दुहराते हैं। पहले वे पानी के लिए बेचैन थे, अब कहते हैं कि वे प्राण छोड़ देंगे। पहले जीवन की चाह थी, अब मृत्यु की चाह है। प्रभु बताना चाहते हैं कि भाई, यह जो तुम्हारी मृत्यु की चाह है, वह भी नकली है; क्योंकि देह ही मनुष्य के लिए सबसे प्रिय है— "सब कें देह परम प्रिय स्वामी" (५/२१/४) और इसीलिए उसके प्रति ममता भी सबसे अधिक है। देह का आकर्षण ऐसा ही प्रबल होता है।

तो, मृत्यु की चाह करनेवाले बन्दरों ने जब सम्पाती के वचन सुने कि इन बन्दरों को हम खा लेंगे, तो सारे बन्दर डर गये। इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो सकता है कि ऐसे भारी भारी योद्धा, जिनमें अंगद हैं, जाम्बवान् हैं, नल और नील आदि हैं, एक बूढ़े गिद्ध से घबरा गये और उनके मन में भय व्याप्त हो गया? अब यह जो भय है, उसका सम्बन्ध वास्तविकता से न हो कल्पना से हुआ करता है। कोई वस्तु वास्तविक हो, तो उसे आप नष्ट कर सकते हैं, पर जो अपनी ही कल्पना में हो, उसे आप कैसे नष्ट करेंगे? अपनी कल्पना माने अपनी बनायी हुई। तो, अपनी ही कल्पना जब स्वयं को कष्ट देने लगे, तो व्यक्ति क्या करे? बन्दर अपनी ही कल्पना से घबरा गये। सम्पाती के स्वर के द्वारा मानो प्रभु ने बता दिया––नहीं, तुम लोगों में कमी है, अपने आप को पहचानो। उसके पश्चात् जब अपनी कमी का भान हुआ, तो अंगद ने विचार का आश्रय लिया–– "कह अंगद बिचारि मन माहीं" (४/२६/७)। जब जीवन में भय आये और कमी का भान हो, तो विचार का आश्रय लेना चाहिए। अंगद ने विचारकर कहा––"धन्य जटायू सम कोउ नाहीं" (४/२६/७) ––जटायु के समान कोई धन्य नहीं। इसका अभिप्राय क्या? इसमें कई संकेत हैं। एक तो यह कि जब मृत्यु का भय उपस्थित हो, तब याद कर लीजिए कि हमसे पहले कोई मरे हैं या नहीं। कथा है कि भगवान् बुद्ध से जब एक मृतक को जिला देने की प्रार्थना की गयी, तो उन्होंने उस घर से सरसों के दो दाने लाने को कहा, जहाँ कभी कोई मृत्यु न हुई हो। पर ऐसा एक भी घर या परिवार नहीं मिल सका, जहाँ मृत्यु न हुई हो। बुद्ध उस वृद्धा से कहते हैं कि जब मृत्यु के बिना कोई घर बचा नहीं है, तो तुम यह कैसे कल्पना करती

हो कि तुम्हारा घर मृत्यु से बचा रहेगा ? यह तुम्हारी आसक्ति है, भ्रान्ति है, भीरुता है। इसे छोड़ो।

वास्तव में हमें दुःख को मिटाने के लिए जिस वस्तु को मिटाना चाहिए, हम उसे नहीं मिटाते। दुःख का कारण वस्तु नहीं, ममता है। साधारण व्यक्तियों की बात तो जाने दीजिए, भगवान् के आवेशावतार परशुरामजी को भी श्री लक्ष्मणजी यही संकेत देते हैं। क्रोध में क्षुब्ध परशुरामजी से लक्ष्मणजी जो वाक्य कहते हैं, उसे वैसे देखें तो लगता है कि लक्ष्मणजी ने उन्हें नीचा दिखाने को वह बात कही हो। वे कहते हैं—

बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं।
कबहुँ न असि रिस कीन्ह गोसाईं ॥१/२७०/७

—'हे गोसाईं, लड़कपन में हमने बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ डालीं, किन्तु आपने ऐसा क्रोध कभी नहीं किया!' लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह है कि सृष्टि में यह कोई पहली बार तो धनुष नहीं टूटा, इसके पहले भी धनुष टूटते रहे हैं। फिर इसके लिए इतना क्रोध क्यों ? यहाँ पर गोस्वामीजी संकेत देते हैं कि धनुष का टूटना मानो मृत्यु का प्रतीक है। भगवान् राम भी परशुरामजी से यही कहते हैं—जो अवश्यम्भावी है, उसके लिए शोक करना क्या उचित है ? जो वस्तु बनी है, वह एक न एक दिन नष्ट होगी ही। आप इतने बड़े ज्ञानी होकर कहते हैं कि धनुष क्यों टूट गया, तो क्या यह आपको शोभा देता है ?

गोस्वामीजी का शब्द बड़ा सुन्दर है। परशुराम जब धनुषयज्ञ में आये, तो क्रोध में थे। जब भगवान् राम को देखा, तो प्रसन्न हो गये और भगवान् राम को फिर देखने के बाद उन्हें क्रोध आ गया। क्यों ? तुलसीदासजी कहते हैं कि

भगवान् राम को देखने के बाद उनकी दृष्टि जब दूसरी ओर गयी, तो—

देखे चाप खंड महि डारे। १/२६६/२

—उन्हें धनुष के खण्ड पृथ्वी पर पड़े दिखायी दिये। गोस्वामीजी का संकेत यह है कि जो अखण्ड के बाद खण्ड को देखेगा, उसे दुःखी ही होना पड़ेगा। जब तक अखण्ड पर दृष्टि है, तभी तक सुख है। पहले देख रहे थे अखण्ड को और अब देखने लगे खण्ड को। जब खण्डित धनुष को देख दुःखी हो गये, तो लक्ष्मणजी ने पूछा—महाराज, बचपन में खेलते खेलते हम लोगों के द्वारा बहुत से धनुष, आप चाहें तो धनुही कह लीजिए, टूट जाया करते थे, पर आप तो कभी नहीं आये? लक्ष्मणजी के शब्द बड़े सुन्दर हैं। उनका संकेत यह है कि महाराज, आपको उन धनुषों से कोई लेना-देना नहीं था, क्योंकि उनके प्रति आपकी कोई ममता नहीं थी। तभी तो आप नहीं आये? यहाँ व्यंग्य यह है कि कौनसा ऐसा दिन संसार में होता होगा, जब किसी की मृत्यु न होती हो? कौनसा ऐसा दिन होता होगा, जब संकट न आता हो? पर हम लोगों को दुःख थोड़े ही होता है। दुःख तो तब होता है, जब किसी के प्रति हमारी ममता होती है। इसीलिए लक्ष्मणजी व्यंग्य करते हैं—"एहि धनु पर ममता केहि हेतू" (१/२७०/८)— इस धनुष के प्रति ममता ही आपके दुःख का कारण है। अतः दवा ममता की कीजिए, धनुष के बारे में मत सोचिए। ममता के नष्ट होते ही देखेंगे धनुष के नाश का दुःख स्वयं ही समाप्त हो जायगा।

तो, मनुष्य के दुःख का केन्द्र वस्तुतः उसकी ममता है। ऐसे समय यदि थोड़ा विचार का आश्रय लिया जाय, तो दुःख भले ही पूरा न मिटे, पर कुछ हलका तो हो ही जाता है।

एक अज्ञानी व्यक्ति पर ममताजन्य दुःख का जितना प्रभाव पड़ता है, विचार का आश्रय लेनेवाले व्यक्ति पर उतना नहीं पड़ता। इसीलिए अंगद ने उस समय विचार का आश्रय लिया।

अंगद के कथन का दूसरा संकेत यह था कि मृत्यु तो सबकी होती है, क्योंकि वह अवश्यम्भावी है, पर जिस तरह जटायु की मृत्यु हुई, उसमें धन्यता है। मृत्यु दो तरह की होती है। कुछ लोगों की मृत्यु निरुद्देश्य होती है—आये, खाये-पिये, जिये और मर गये। और कुछ लोगों की मृत्यु एक उद्देश्य को लेकर होती है। अंगद ने अपने कथन के माध्यम से उसकी याद की, जिसकी मृत्यु सोद्देश्य हुई थी। कहा—"धन्य जटायू सम कोउ नाहीं"। व्यावहारिक दृष्टि से अंगद का यह कथन उनकी नीति को प्रकट करता है और तात्त्विक दृष्टि से परमार्थ को। नीति की दृष्टि से देखें तो उसका तात्पर्य था सम्पाती को यह सुनाना कि एक गीध ने तो श्रीसीताजी के लिए प्राण दे दिये और तुम दूसरे गीध हो, जो श्रीसीताजी का पता लगानेवालों को खाना चाहते हो! यह कैसा तुम्हारा उल्टा स्वभाव है? तुम्हारा भाई कैसा और तुम कैसे? परमार्थ की दृष्टि से उसका तात्पर्य यह था कि एक साधारण गीध भी, जो अधम माना जाता है, कैसे भक्तिदेवी के लिए प्राण देकर धन्य हो गया। अंगद का संकेत यह था कि हम लोग भी तो उसी पथ के पथिक हैं, हम भी श्रीसीताजी का पता लगाने जा रहे हैं, इसलिए चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं।

फिर, उनके कथन का तीसरा संकेत यह भी था कि हम भी यदि जटायु की तरह घायल हो जायें, तो शायद हमें भी प्रभु स्वयं अपनी गोद में लेने के लिए आ जायें, मृत्यु के समय हमें भी शायद प्रभु की गोद प्राप्त हो जाय। तो,

इस प्रकार एक ओर विचार के द्वारा भय कम हुआ, और दूसरी ओर सम्पाती ने अंगद की बात सुनकर कहा— अच्छा, अच्छा, तुम लोग अब डरो मत। तुम मुझे जटायु की बात बताओ, वह मेरा छोटा भाई था। तब सम्पाती ने जटायु की सारी कथा सुनी और तत्पश्चात् उसने अपनी कथा सुनायी। फिर वह बोला—निराश होने की आवश्यकता नहीं है। समुद्र में जो अशोकवाटिका है और उस वाटिका में जो अशोक का वृक्ष है, उसी के नीचे सीताजी बैठी हैं। बन्दर यह सुन आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे, पर उन्हें कुछ दिखायी नहीं दिया। समुद्र तो दिख रहा था, पर सीताजी कहाँ हैं इसका कुछ भी पता नहीं लग रहा था। तब बन्दरों ने आश्चर्य से सम्पाती से कहा— कहाँ, हमें तो कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा है ?

इस बात का एक आध्यात्मिक पक्ष है। सम्पाती का तात्पर्य यह था कि दिखायी देने में केवल वस्तु का होना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, नेत्र का भी उतना ही महत्त्व है। किसी वस्तु को यदि तौलना हो, तो मात्र तराजू पर रख देने से ही काम नहीं बनेगा, यह भी देख लेना होगा कि तराजू ठीक है या नहीं, तभी तौल ठीक ठीक हो पाएगी। अधिकांश लोगों की भूल यहीं होती है कि वे कह तो देते हैं कि आँखों से देखे बिना नहीं मानेंगे, पर वे यह देखना भूल जाते हैं कि जिन आँखों को वे प्रामाणिक मानते हैं, वे ठीक हैं या नहीं, उनमें कोई रोग तो नहीं हो गया है, उन आँखों को और किसी चीज की आवश्यकता तो नहीं है ? तभी तो शंकर-जी ने पार्वतीजी से कहा था—

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना।
राम रूप देखहिं किमि दीना॥ १/११४/४

—'जिनका हृदयरूपी दर्पण मैला है और जो नेत्रों से हीन हैं, वे बेचारे श्रीरामचन्द्रजी का रूप कैसे देखें !'

तो, जब बन्दरों ने कहा कि उन्हें कुछ नहीं दिख रहा है, गीध तुरन्त बोल उठा— "मैं देखउँ तुम्ह नाहीं"। ऐसा क्यों ? इसलिए कि—"गीधहि दृष्टि अपार" (४/२८)। अब इसका भौतिक तात्पर्य तो यह है कि गीध की दृष्टि पैनी होती है, इसलिए वह देख पाता है और बन्दर नहीं देख पाते। पर इसका आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि बन्दर देहाभिमान के समुद्र के तट पर बैठे हैं, इसलिए भक्तिदेवी नहीं दिखायी देतीं। यह तो सीधी-सी बात है कि जो देह में बैठा है, वह भगवान् को कैसे देख सकता है ? देह में रहने से संसार दिखता है, भक्तिदेवी नहीं दिखतीं। पर सम्पाती भक्तिदेवी को देख लेता है। इसका आध्यात्मिक दृष्टि से अर्थ यह हुआ कि सम्पाती देहाभिमान के समुद्र को पार कर चुका है। उसकी अपनी कथा से हमें इस बात का पता चलता है।

सम्पाती कहता है कि मैं और जटायु सगे भाई थे। दोनों जब युवा थे, तो हम लोगों ने विचार किया कि ऊपर सूर्य की ओर चला जाय। गीध जाति में हमारा जन्म हुआ है, फलतः हम लोग ऊपर तो उड़ लेते हैं, पर दुर्भाग्य से हमारी दृष्टि नीचे ही रहती है। गीध के पास दो वस्तुएँ अच्छी होती हैं— एक तो पंख, उड़ने की शक्ति और दूसरी, पैनी आँख। पंख यदि कर्म का, पुरुषार्थ का प्रतीक है, तो नेत्र ज्ञान का। गीध का पुरुषार्थ भी बड़ा होता है और ज्ञान भी। पर वह दोनों का उपयोग किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए करता है ? पुरुषार्थ से वह बहुत ऊँचे तो उठ जाता है, पर पैनी आँख का उपयोग नीचे दृष्टि करके मुर्दे को खोजने के लिए करता है, जिससे कहीं मुर्दा पड़ा मिल जाय, तो चलकर खाए। तात्पर्य यह कि

पुरुषार्थ चाहे जितना ऊँचा हो, पर यदि उद्देश्य विषयरूप सड़े हुए मांस को ही खोजना हो, तो ऐसे स्थल पर गोस्वामीजी की यह उक्ति ही लागू होती है — 'बेद पुरान अनेक पढ़े, बिगड़े सब पेट उपायन में"। कर्म तो ऊँचे, पर दृष्टि नीची, अधोमुखी । इसीलिए सम्पाती ने जटायु से कहा कि हम लोग ऊपर की ओर, सूर्य की ओर चलें, प्रकाश की ओर चलें । मृत्यु की ओर क्यों चलें ? जटायु ने कहा— ठीक है, चलते हैं। जब दोनों सूर्य की ओर चलने लगे, तो तेज बढ़ने लगा। सूर्य में प्रकाश और दाहकता दोनों हैं। बुद्धिमत्ता इसमें है कि प्रकाश को लेकर दाहकता को, जलाने के गुण को छोड़ दिया जाय। जब वे दोनों ऊपर उठने लगे, तो देखा कि प्रकाश तो नीचे भी उतना ही था, पर हाँ, ताप बढ़ रहा है, सूर्य की जलानेवाली शक्ति बढ़ रही है । जटायु ने कहा— मैं तो और ऊपर नहीं जाऊँगा, और ऐसा कह वे लौट गये, पर सम्पाती अपने हठ पर अड़ा रहा और ऊपर की ओर गमन करता रहा। तो क्या जटायु कायर हैं और सम्पाती वीर ? कभी कभी बात उल्टी हो जाती है । जो वीर दिखायी देता है, वह असल में कायर होता है और जो कायर दिखता है, वह वीर होता है । मन की वृत्ति बड़ी विचित्र होती है। गोस्वामीजी मनोविज्ञान की एक बढ़िया बात लिखते हैं। रावण ज्यों ज्यों मृत्यु के पास पहुँचने लगा, त्यों त्यों गरजने लगा । क्यों?—इसलिए कि "गर्जा प्रति अंतर बल थाका" (६/६१/२)— उसका अन्तर का बल चुक गया था। इसीलिए बाहर का बल दिखला रहा था। हृदय में जब शक्ति नहीं रह जाती, तब मनुष्य वाणी के द्वारा, चिल्लाकर शक्ति का प्रदर्शन किया करता है। यह दुर्बलता का ही प्रतीक है। तो, जटायु भले ही कायर के समान दिखें,

पर वस्तुतः वे वीर थे। उनके मन में विचार का उदय हुआ कि क्या सचमुच हम लोग प्रकाश को पाने के लिए ऊपर जा रहे हैं ? उन्हें लगा कि नहीं, यदि प्रकाश को पाना ही उद्देश्य होता तब तो प्रकाश नीचे ही था, उसे पाने के लिए ऊपर जाने की कोई आवश्यकता न थी, यह तो हम संसार को अपनी महानता दिखलाने के लिए जा रहे हैं कि देखो, हम लोग कितना ऊपर उठे हुए हैं कि सूर्य तक पहुँच गये ! अब यदि सूर्य तक पहुँच ही गये, तो इतना ही सिद्ध होगा न कि जहाँ तक कोई नहीं पहुँच पाया, वहाँ हम पहुँच गये। इसके अतिरिक्त और क्या लाभ होगा ? बल्कि हानि ही की सम्भावना है कि सूर्य के उत्ताप से, हमारे अहंकार की ज्वाला से हमारा जीवन ही कहीं जलकर नष्ट न हो जाय। इसलिए जटायु सम्पाती को भी वापस लौट चलने की सलाह देते हैं——पहुँच भी जाओगे तो क्या मिलने का ? बल्कि व्यर्थ जीवन के नष्ट होने की ही सम्भावना है। चलो, लौट चलें। पर सम्पाती नहीं लौटता और जिद में ऊपर ही ऊपर गमन कर अन्त में अपने पंख जलाकर नीचे गिर पड़ता है। अब कौन कायर है ? गोस्वामीजी संकेत देते हैं कि यदि जटायु कायर होते, तो क्या चुनौती देकर वे रावण से लड़ते ? उस युद्ध में जटायु के पंख नष्ट होते हैं। तो, जटायु और सम्पाती इन दोनों के पंख नष्ट होने में क्या समानता है ? नहीं, क्योंकि दोनों का उद्देश्य अलग अलग था। सम्पाती के पंख नष्ट हुए सूर्य तक पहुँचने में और जटायु के पंख नष्ट हुए श्री सीताजी को बचाने में। एक ने अहंकार के लिए अपना विनाश करा लिया और दूसरे ने भक्तिदेवी की रक्षा के लिए, उनकी सेवा के लिए अपने आपका बलिदान कर दिया। अतः दोनों में बड़ा अन्तर है। गोस्वामीजी सम्पाती

के वचनों से यही संकेत कराते हैं। सम्पाती यह नहीं कहता कि जटायु कायर था, इसलिए लौट गया और मैं वीर था, इसलिए और भी ऊपर चला गया। वह कहता है—

हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई ।
गगन गए रवि निकट उड़ाई ॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा ।

फिर आप क्यों चले गये? —

मैं अभिमानी रबि निअरावा ॥ ४/२७/२-३

—मैं पक्का अभिमानी था। मुझे डर लगा कि यदि लौट गये, तो लोग हमें कहीं कायर या दुर्बल न कहें, सो मैं नहीं लौटा।

अब, जो व्यक्ति ऐसा सोचकर कार्य करता है कि लोग क्या कहेंगे, वह अपने विवेक के अनुरूप कार्य नहीं करता। फल यह हुआ कि जटायु तो लौट गये और सम्पाती आगे बढ़ता गया, पर वह सूर्य तक तो नहीं पहुँच पाया, अपितु उसके पंख जल गये और वह नीचे गिर पड़ा। अब यदि कोई नीचे गिर पड़ता है, तो गोस्वामीजी संकेत देते हैं कि उसे उठानेवाले संसार में केवल दो ही लोग होते हैं—या तो भगवान्, या फिर सन्त। सम्पाती की भी बातों से यही ध्वनित होता है। वह कहता है—

मुनि एक नाम चन्द्रमा ओही ।
लागी दया देखि करि मोही ॥
बहु प्रकार तेहिं ग्यान सुनावा ।
देह जनित अभिमान छड़ावा ॥ ४/२७/५-६

—मुझे चन्द्रमा नाम के मुनि ने गिरते हुए देख लिया और उन्होंने कृपा करके मुझे उठाया, तरह तरह से प्रबोधित किया तथा मेरा देहाभिमान दूर किया। तो, जब देहाभिमान

की मूल बाधा दूर हो गयी, तो जटायु की ही भाँति सम्पाती को भी फल प्राप्त हुआ, पर हाँ, कुछ विलम्ब से। जटायु ने तो भक्तिदेवी की रक्षा के लिए ही अपना बलिदान किया था, इसलिए उन्हें तत्काल ही फल प्राप्त हो गया था। पर सम्पाती को फल बाद में मिलता है। उसे श्री हनुमान्जी की कृपा से दिव्य देह मिलती है। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में हनुमान्जी के लिए एक विशेषण उपयोग में लाते हैं—

जयति धर्मांशु-संदग्ध-संपाति
नवपक्ष-लोचन-दिव्य-देहदाता। २८/६

—'तुम सूर्य से जले हुए सम्पाती नामक गृद्ध को नये पंख, नेत्र और दिव्य शरीर के देनेवाले हो।' पर 'रामायण' में ऐसा प्रसंग तो कहीं पर भी नहीं आता कि हनुमान्जी ने सम्पाती को देह दी हो। तब गोस्वामीजी के इस कथन का क्या अर्थ है?

यदि हम स्वयंप्रभा के प्रसंग का स्मरण करें, तो वहाँ बन्दरों से कहा गया— "मूदहु नयन"। और सारे बन्दरों ने आँखें मूँद लीं। पर अगले ही क्षण उन्होंने आँखें खोल लीं — "नयन मूदि पुनि देखहिं बीरा।" (४/२४/६) आँखें बन्द करने का तात्पर्य है—पूरी तरह से अपने को प्रभु की कृपा पर छोड़ देना। स्वयंप्रभा की आज्ञा का ठीक ठीक अर्थ अगर किसी ने लिया, तो वे हनुमान्जी थे। वे आँखें बन्द किये बैठे रहे। जब सम्पाती ने कहा कि इन बन्दरों को आज आहार बनाऊँगा, तो भी हनुमान्जी ने आँखें नहीं खोलीं। फलस्वरूप अंगद को बोलना पड़ा। अभी तक हर कष्ट में हनुमान्जी आगे आगे रहे बोलते रहे, पर यहाँ पर वे मौन रहे। ईश्वर-प्रेरणा से जो आज्ञा मिली, उसमें पूर्ण विश्वास रखते हुए उसके पालन में संलग्न रहे. और इस

तरह मौन रहकर उन्होंने सम्पाती को भक्तिदेवी के दर्शन प्राप्त करने का सुअवसर प्रदान किया। हनुमान्‌जी मौन रहकर अंगद को बोलने का अवसर देते हैं और अंगद से जटायु का नाम सुन सम्पाती को जटायु के बारे में जानने का सुयोग प्राप्त होता है। फलस्वरूप सम्पाती सीताजी के दर्शन कर अपने नेत्रों को सार्थक करता है; क्योंकि नेत्रों की सार्थकता इसी में है कि भक्तिदेवी के दर्शन हों। इस दर्शन के परिणामस्वरूप सम्पाती को नये पंख प्राप्त होते हैं, दिव्य देह प्राप्त होती है। इसीलिए गोस्वामीजी हनुमान्‌जी की वन्दना में कहते हैं कि आपकी ही कृपा से सम्पाती को नये पंख और दिव्य शरीर प्राप्त हुए।

चन्द्रमा मुनि ने, सन्त ने सम्पाती को उठाते समय यह सीख दे दी थी कि तुम्हारे पंख नष्ट हो गये तो क्या हुआ, तुम्हारे नेत्र तो बचे हुए हैं, इन नेत्रों से भगवान् की सेवा करना। अधिकांश लोग अपने पास जो न हो, उसी से भगवान् की सेवा करना चाहते हैं। एक धनी सज्जन किसी महात्मा के पास गये और बोले—क्या बताएँ, मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, नहीं तो मैं आपके चरण दबाता, आपकी सेवा करता। थोड़ी देर बाद एक दरिद्र व्यक्ति महात्माजी के पास आया और बोला—महाराज, अगर मेरे पास पैसा होता, तो मैं आपकी सेवा करता। जिसके पास धन है, वह शरीर से सेवा करना चाहता है और जिसके पास शरीर है, वह धन से! अरे भाई, जो है, उससे सेवा कीजिए। इसीलिए सन्त ने, चन्द्रमा ने सम्पाती से कहा—तुम्हारे पंख नहीं हैं, तो क्या हुआ, आँखों का प्रयोग करना। तुम जब भगवान् श्रीराम के दूतों को सीताजी दिखा दोगे, तो उतनी ही सेवा से तुम्हारे पंख फिर से उग आएँगे— "जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता"

(४/२७/६)। तो, सम्पाती देहाभिमान से रहित था, इसीलिए हनुमान्जी की कृपा उस पर हुई और वह भक्ति-देवी के दर्शन में समर्थ हुआ।

पर ये बन्दर भक्तिदेवी को नहीं देख पा रहे हैं। वे केवल समुद्र को ही देख पा रहे हैं। इसका कारण बताते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

निज निज बल सब काहूँ भाषा।
पार जाइ कर संसय राखा॥ ४/२८/६

—वे सभी 'मैं' के घेरे में घिरे हुए थे, उस देहाभिमान को पार करने की शक्ति किसी में नहीं थी। एकमात्र हनुमान्जी ही ऐसे थे, जो चुप थे; जिन्होंने अपने बल के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। इसलिए उन्हें चैतन्य करना पड़ा। जाम्बवान् ने उनसे कहा—

का चुप साधि रहेहु बलवाना।
पवन तनय बल पवन समाना॥ ४/२६/३-४

पर यह सम्बोधन सुनकर भी हनुमान्जी कुछ नहीं बोले, वे मौन ही रहे। यदि 'पवनपुत्र' बनकर वे बोल पड़ते, तो फिर देह की सीमा में ही आ जाते। तब तो वे अपने आपको देह मान ही लेते। इसीलिए उन्होंने अपनी चुप्पी नहीं तोड़ी। पर जब जाम्बवान्जी ने कहा— "राम काज लगि तव अवतारा" (४/२६/६)— तुम्हारा तो अवतार ही राम-कार्य के लिए हुआ है, तो वे "सुनतहिं भयउ पर्वताकारा"। हनुमान्जी का तात्पर्य यह था कि जब भगवान् के कार्य के लिए अवतार हुआ है, तब भगवान् का बल पूछना चाहिए। यह न कर जाम्बवान्जी प्रत्येक बन्दर से पूछ रहे थे कि तुममें कितना बल है? जब कार्य भगवान् का है, तो भगवान् का बल पूछा जाना चाहिए, न कि मनुष्य या बन्दरों का।

जिससे प्रभु काम कराएँगे, उसे वे बल दे देंगे। जब कार्य प्रभु को लेना है, तो फिर चिन्ता की क्या बात है? व्यक्ति व्यक्ति का बल पूछने का परिणाम यह होता है कि सारे बन्दर निराश हो जाते हैं। एकमात्र हनुमान्जी ही ऐसे हैं, जो समुद्र के ऊपर ऊपर उड़कर पार हो जाते हैं। वे देह के अभिमान के ऊपर हैं, इसीलिए समुद्र के ऊपर ऊपर चले जाते हैं। और जब वे इस प्रकार जा रहे थे, तो समुद्र ने उनकी परीक्षा ले ही ली। समुद्र ने मैनाक से कहा—देखो, तुम्हारे मित्र पवन का पुत्र जा रहा है, उसका जरा स्वागत करो। इस पर मैनाक ने हनुमानजी से कहा—सुनो, हम तुम्हारे पिताजी के मित्र हैं, आओ जरा विश्राम कर लो। हनुमान्जी यदि देह का नाता मानते होते, तो रुक जाते। पर वे नहीं रुकते और मन ही मन हँसते हैं। हनुमान्जी को यह सोचकर हँसी आ गयी कि मैनाक तो स्वयं इन्द्र के डर के मारे समुद्र में आ छिपा है, उसको स्वयं को तो विश्राम है नहीं और दूसरों को विश्राम देना चाहता है! पर प्रकट में वे अपने पिता के मित्र का अनादर नहीं करते, वे उसके प्रति सम्मान दिखाते हैं—

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काज कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥ ५/१०

हनुमान्जी के इस कथन से मालूम होता है कि वे देह के अभिमान से ही नहीं, देह से भी ऊपर हैं। वे देह के नाते को नहीं स्वीकारते, इसलिए उनमें देह के अभिमान की कल्पना ही नहीं की जा सकती। तभी तो समुद्र ने व्यंग्य कसा—तुम देह के ऊपर ही ऊपर चले जा रहे हो, इसलिए तुम्हें मेरी प्रबलता का पता नहीं चल रहा है, यदि तुम देह में आते, तो पता चलता। हनुमान्जी ने इसके उत्तर में

कहा— ठीक है, अभी तो नहीं, पर बाद में हम तुम्हें तुम्हारी इस बात का भी उत्तर दे देंगे। और सचमुच उन्होंने वह किया भी। जब वे लंका को जला चुके, तो समुद्र में कूद पड़े—

उलटि पलटि लंका सब जारी।
कूदि परा पुनि सिंधु मझारी ॥ ५/२५/८

अपनी इस क्रिया के द्वारा हनुमान्‌जी मानो संकेत देना चाहते हैं कि जब तक साधक भक्तिदेवी तक न पहुँच जाय, तब तक उसे देहाभिमान से दूर रहना चाहिए, पर जब भक्ति एक बार जीवन में आ जाय, तो देह को स्वीकार कर लेने में भी कोई डर नहीं है, क्योंकि "तन बिनु बेद भजन नहिं बरना" (७/९५/५)— वेदों ने वर्णन किया है कि शरीर के बिना भजन नहीं होता। इसीलिए हनुमान्‌जी भक्तिदेवी के दर्शन के बाद देहाभिमान के समुद्र में कूदकर दिखा देते हैं कि लो, अब तुम्हारा हम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

अब प्रश्न उठता है कि हनुमान्‌जी के समान सामर्थ्यवान् लोग तो ऊपर ही ऊपर जाकर इस समुद्र के पार हो गये, पर जो असमर्थ लोग हैं, ये वानर आदि हैं, वे कैसे इसके पार होंगे? तो इसके लिए ज्ञान, भक्ति और कर्म के तीन मार्ग हमारे सामने रखे गये हैं। इन तीनों के द्वारा देहाभिमान पर विजय प्राप्त की जा सकती है। पत्थर का जो पुल वानरों आदि ने बनाया है, वह कर्म का मार्ग है, आकाश का मार्ग ज्ञान का है तथा जलचरों पर का मार्ग भक्ति का है। कथा के प्रारम्भ में जिस दोहे का मैंने पाठ किया, वह इन्हीं तीन मार्गों को प्रदर्शित करता है। वहाँ कहा गया है—

सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं ॥६/४

——बहुत से वानर आकाशमार्ग से जा समुद्र को पार करते हैं, अन्य बहुत से अपने बनाये पुल पर से जाते हैं और शेष सब जलचरों पर सवार हो समुद्र को पार कर लेते हैं। अभिप्राय यह है कि आप सत्कर्मों और सद्गुणों के द्वारा पुल बाँधिए, और सद्गुणों को नल-नील की कृपा से हल्का बनाइए। वैसे सत्कर्म और सद्गुण हैं तो बड़े मजबूत, पर इनमें अहंकार का बोझ है—— मैं दानी हूँ, मैं धर्मात्मा हूँ, मैं पूजा करता हूँ, मैं पाठ करता हूँ। यह 'मैं' यदि निकल जाय, तो पत्थर हल्के हो जायँ। इसके साथ ही इन्हें 'रा' और 'म' अक्षर से जोड़ दिया जाय, अर्थात् भगवान् के नाम का आश्रय ले लिया जाय और अपना कर्तापन मिटा दिया जाय, तब तो इन सत्कर्मों के द्वारा ही देहाभिमान पर विजय प्राप्त की जा सकती है। पुण्य तो देह से ही करना पड़ेगा और जो पत्थर का पुल बनेगा, वह समुद्र से सटा हुआ ही बनेगा। पर चूँकि इन पत्थरों को भगवान् के नाम का आश्रय लेकर हल्का बना दिया गया है, इसलिए अब यह पुल पार करानेवाला बन जाएगा। अभिप्राय यह है कि अभिमान-सहित किये गये पुण्य के द्वारा व्यक्ति समुद्र में डूबता है और अभिमान-रहित पुण्य के द्वारा, कर्म और सद्गुणों के द्वारा वह देहाभिमान को पार कर जाता है। इसीलिए 'गीता' में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं——

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ९/२७

——'हे अर्जुन, तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।'

तो, देहाभिमान के इस समुद्र को ज्ञान, कर्म या भक्ति

के सहारे पार किया जा सकता है। पहले तो हनुमान्जी अकेले ही आकाशमार्ग से गये, पर इस बार बहुत से बन्दर आकाश-मार्ग से जाते हैं। वे ज्ञानी हैं, वे देह को छूते नहीं, मानते नहीं। बहुत से वानर अपने बनाये पुल पर से जाते हैं, वे अपने पुरुषार्थ से, कर्म से देहाभिमान के समुद्र को पार करते हैं। तब प्रभु बन्दरों से कहते हैं--अच्छा भाई, दो पुल तो तुम लोगों ने बनाये, अब हम भी एक पुल बना दें। वे जलचरों का पुल बना देते हैं। प्रभु पत्थरों के पुल पर खड़े हो जाते हैं और समुद्र के सारे जलचर प्रभु को देखने के लिए ऊपर आ जाते हैं। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं--"नक्र-रागादि-संकुल मनोरथ सकल"--यह समुद्र राग-द्वेष और कामना आदि के अनेक घड़ियालों से भरा है। ये जलचर प्रभु को देखने के लिए प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार इन जलचरों से एक पुल बन जाता है। यह कृपा का पुल है, भक्ति का मार्ग है। कर्म और ज्ञान के मार्गों में तो पुरुषार्थ है, पर भक्ति के मार्ग में कृपा की आवश्यकता है। संकेत यह है कि हमारे अन्तःकरण में भी राग-द्वेष आदि के बड़े बड़े जलचर हैं। ये संसार को लेकर रहें, तो मनुष्य को खा जाते हैं, पर यदि इन्हें भगवान् की ओर लगा दिया जाय, तो वे ही पार करानेवाले बन जाते हैं।

इस प्रकार बन्दर ज्ञान, कर्म और भक्ति के मार्गों से देहाभिमान के समुद्र को पार करने में समर्थ होते हैं।

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) ऐसी बानी बोलिए

एक बार गौतम बुद्ध से अभय राजकुमार ने एक 'उभय' प्रश्न किया। 'उभय' प्रश्न वह होता है, जिसका उत्तर न तो 'हाँ' दिया जा सकता है और न 'नहीं'। जैसे यदि कोई किसी से प्रश्न करे—"क्या तुमने चोरी करना बन्द कर दिया है?" तब यदि उत्तर देनेवाला 'हाँ' कहे, तो इसका अर्थ यह होगा कि वह पहले चोरी करता था। और यदि वह 'नहीं' कहे, तो यह अर्थ निकलता है कि वह अब भी चोरी करता है।

अभय ने जो प्रश्न किया, वह यह था--"क्या श्रमण गौतम कभी कठोर वचन कहते हैं?" उसने सोच रखा था कि 'नहीं' कहने पर वह बताएगा कि एक बार उन्होंने देवदत्त को 'नारकीय' (नरकगामी) कहा था, और यदि 'हाँ' कहें, तो उनसे पूछा जा सकता है कि "जब आप स्वयं कठोर शब्दों का प्रयोग करने से स्वयं को रोक नहीं पाते, तब दूसरों को ऐसा उपदेश कैसे देते हैं?" बुद्धदेव ने अभय के प्रश्न का आशय जान लिया। उन्होंने कहा, "इसका उत्तर न तो 'हाँ' दिया जा सकता है और न 'नहीं'।"

अभय राजकुमार की गोद में उस समय एक छोटा बालक था। उसकी ओर इशारा करते हुए बुद्धदेव ने पूछा, "राजकुमार, यदि दाई के अनजाने में यह बालक अपने मुख में काठ का टुकड़ा डाल ले, तब तुम क्या करोगे?"

"मैं उसे निकालने का प्रयास करूँगा।"

"यदि वह आसानी से न निकल सकता हो तो ?"

"तो बायें हाथ से उसका सिर पकड़कर दाहिने हाथ की उँगली को टेढ़ा करके उसे निकालूँगा।"

"यदि खून निकलने लगे तो ?"

"तो भी मेरा यही प्रयास रहेगा कि वह काठ का टुकड़ा किसी न किसी तरह बाहर निकल आए।"

"ऐसा क्यों ?"

"इसलिए कि भन्ते, इसके प्रति मेरे मन में अनुकम्पा है।"

"राजकुमार, ठीक इसी तरह तथागत जिस वचन के बारे में जानते हैं कि यह मिथ्या या अनर्थकारी है और उससे दूसरों के हृदय को ठेस पहुँचती है, तब उसका वे कभी उच्चारण नहीं करते। पर इसी तरह जो वचन उन्हें सत्य और हितकारी प्रतीत होते हैं तथा दूसरों को प्रिय लगते हैं, उनका वे सदैव उच्चारण करते हैं। इसका कारण यही है कि तथागत के मन में सभी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा है।"

(२) माया बस्य जीव अभिमानी

वलीराम नामक एक महान् सन्त हो गये हैं। वे पहले औरंगजेब के दरबार में दीवान थे। मुकदमों की फाइलें तैयार करना उनका काम था। जब दरबार भरता, तब यह प्रथा थी कि बादशाह के आते ही सारे दरबारी खड़े हो जाते और उनके द्वारा सलाम करने पर बादशाह उनकी ओर नजर फेरकर जब तक बैठने का इशारा न करता, वे बैठते न थे।

एक बार दरबार में बादशाह के आने पर जब सब

दरबारी खड़े हुए, तब बादशाह ने वलीराम को बैठने का इशारा नहीं किया। इससे वलीराम के आत्मसम्मान को ठेस पहुँची। उन्हें क्रोध आया और उन्होंने फाइलें वहीं रख दीं तथा वे चुपचाप घर लौट आये। घर आकर उन्होंने घोषणा कर दी कि उन्हें इस संसार से बिल्कुल मोह नहीं है, जिन्हें जो चाहिए, वह उनके घर से ले जा सकते हैं। उन्होंने घर का त्याग कर दिया और वे पहने हुए वस्त्रों के साथ यमुना के किनारे जाकर रेत में पैर फैलाकर लेट गये।

इधर जब दरबार में वलीराम न दिखायी दिये, तो बादशाह ने उनके बारे में पूछताछ की। तब दरबारियों ने बताया कि वे दरबार में आये तो थे, किन्तु बादशाह द्वारा उनकी ओर न देखे जाने पर वे फाइलें रखकर घर चले गये। बादशाह ने तब उनके घर उन्हें बुला लाने के लिए सेवकों को भेजा। सेवकों को जब सारी बात मालूम हुई, तो उन्होंने ज्यों की त्यों बादशाह को सुना दी। बादशाह ने सेवकों को यमुना किनारे जाकर वलीराम को ले आने का आदेश दिया। सेवकों ने जब बादशाह की आज्ञा सुनायी, तो उन्होंने कहा, "जाओ, बादशाह से कह दो कि मैंने घर-संसार का त्याग कर दिया है और अब मैं उनका चाकर न रहा। यदि उन्हें गरज हो, तो वे आकर मुझसे मिल सकते हैं।" यह सुनते ही बादशाह को क्रोध आ गया। वह यमुना-किनारे गया और उसने वलीराम से पूछा, "वली-राम, तुमने अपने पैर कब से फैला लिये?"

वलीराम ने तपाक से जवाब दिया, "जब से आपने अपने हाथ समेट लिये, जनाब!" वे आगे बोले, "इस संसार में रहकर मैंने यही सीख ली कि माया ही सबको घमण्डी, पापी और दुराचारी बनाती है। इस कारण

मैंने उससे दूर रहना उचित समझा और इसलिए मैंने अब उसका त्याग कर दिया है।" वे मस्ती-भरी वाणी में आगे बोले --

"चे बन्दाये बन्दा बूदम व नज़रत न नवाखती।
अकने कि कदम दरआं बन्दा परवर निहादम
बदीं हरम ताखती॥"

(जब तक मैं तेरा दास था, तू मेरी ओर आँख उठाकर भी देखता नहीं था। अब मैं ईश्वर का दास बना हूँ और तेरा धन और सम्पत्ति मैंने छोड़ दी है, तब तू स्वयं चलकर मेरे पास आया है। तेरे इस संसार से मुझे अब लेना-देना क्या?)

बादशाह से कुछ कहते न बना और वह वहाँ से चुपचाप चलता बना।

(३) लोभ कबहुँ न कीजिए, यामें नरक निदान

बगदाद में फलोज नामक एक बड़े सन्त हो गये हैं। उनके प्रवचनों को सुनने के लिए लोगों की बड़ी भीड़ रहती थी। बात जब बादशाह हारूँ-अल-रशीद के कानों में पहुँची, तो उसने भी सन्त के दर्शन करने का निश्चय किया। वह सन्त के पास गया और उनके चरण छूकर उनके पास बैठ गया तथा शान्ति से प्रवचन सुनने लगा।

प्रवचन समाप्त होने पर उसने सन्त से धर्म-चर्चा की और कुछ प्रश्न भी किये, जिसके उत्तरों से वह सन्तुष्ट हो गया। लौटते समय बादशाह ने सोचा कि चुपचाप वापस जाना ठीक नहीं। इसलिए उसने उनके चरणों में एक हजार दीनार भरी थैली रखी। थैली को देखते ही सन्त का चेहरा उदास हो गया, फिर बोले, "बादशाह! अभी अभी मैंने आपको जन्नत का रास्ता बताया था और सोचा था कि आप

भी इसी राह चलेंगे, लेकिन ऐसा न करके आप लालच के जरिये दोजख की राह दिखा रहे हैं। आपकी यह थैली आपको ही मुबारक हो।"

(४) मेरा तो एक साइयां

एक बार गजनी के सुलतान महमूद ने सन्त अबुल हसन खिरकानी के पास अपना दूत भेजा। उसने उनसे कहा—"बादशाह सलामत गजनी से आपकी जियारत के लिए यहाँ तशरीफ लाये हैं। उनकी दिलोख्वाहिश है कि आप उनके खेमे में पहुँचकर उन्हें दीदार कराएँ।" सन्त ने जो सुना तो मुसकरा दिये, बोले, "मैं तो अल्लाह के अलावा और किसी को बड़प्पन नहीं देता।" दूत बोला, "बादशाह ने यह भी कहा है कि यदि आप राजी न हों, तो आपको यह आयत सुनाने के लिए कहा है -- 'इताअत (आज्ञा-पालन) करो अल्लाह की और उनकी जो कौमी हाकिम हैं'।"

यह सुनकर हसन बोले, "महमूद से कह दो—मैं अल्लाह की इताअत में ही मसरूफ रहता हूँ। रसूल की इताअत के लिए मेरे पास वक्त नहीं रहता। फिर तुम जैसे दुनियाँवी हाकिमों के लिए वक्त कहाँ से आए ?" महमूद ने सुना, तो बोल उठा, "ये तो पहुँचे हुए दिखायी देते हैं। मैं इनको ऊँचा समझता था, लेकिन ये तो और भी ऊँचे निकले। इसलिए मुझे ही उनके दीदार के लिए जाना चाहिए।"

(५) जे हरि चरणां राचिया

महाराष्ट्र के सन्त सोहिरोबानाथ एक बार ग्वालियर गये। उस समय वहाँ के शासक महादजी सिन्धिया

थे। उन्होंने सन्त को राजसभा में आने का निमंत्रण दिया। राजा के सेनापति जिवबादादा थे, जो सन्त सोहिरोबा की विद्वत्ता और ज्ञान से बड़े प्रभावित थे। उन्होंने सन्त से कहा, "महाराजा एक अच्छे कवि हैं, आप जब उनसे मिलने जाएँ, तो उनकी काव्य-प्रशंसा अवश्य करें।" जिवबादादा ने सोचा था कि आत्म-प्रशंसा से खुश हो राजा उन्हें अच्छा इनाम देंगे। सन्त ने सुना तो चुप रह गये। जिवबा दादा को क्या मालूम कि साधु पुरुषों को ऐश्वर्य का कोई आकर्षण नहीं होता।

सोहिरोबा दूसरे दिन जब राजसभा में गये, तो राजा ने काव्य-पाठ किया और उनका अभिप्राय जानना चाहा। सोहिरोबा बोले, "महाराज! बुरा न मानें, आपकी कविता है तो अच्छी, लेकिन मुझे बिलकुल पसन्द नहीं आयी। मेरी राय में तो जिस रचना में भगवान् का गुणगान नहीं, वह निकृष्ट होती है। वह कविता नीरस और निस्सार होती है, जो भगवद्-रस में डूबी न हो। इसके विपरीत, जिस कविता में भगवान् की महिमा गायी होती है, वह उत्तम कोटि की होती है।" इस स्पष्टोक्ति से सारी राजसभा स्तब्ध रह गयी, किन्तु राजा को बिलकुल बुरा न लगा और उसने अपनी लेखनी का उपयोग भगवद्-भजन लिखने के लिए करने का निश्चय किया।

श्री माँ सारदा

प्रव्राजिका श्यामप्राणा

(श्री सारदा मठ, दक्षिणेश्वर, कलकत्ता)

जननीं सारदां देवीं रामकृष्णं जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब भगवान् स्वयं धर्म-स्थापन के लिए इस वसुन्धरा पर साधारण मानव की भाँति अवतार लेते हैं। जगत्-कल्याण के महान् कार्य को पूर्ण करने हेतु उनके साथ उनकी महाशक्ति का भी आविर्भाव होता है--- जैसे सीता, राधा, यशोधरा, और विष्णुप्रिया आदि।

यह भी याद रखना है कि अवतार-पुरुष साधारण जीवों की भाँति कर्मफल के वशीभूत होकर जन्म नहीं लेते। वह पूर्ण ब्रह्म सनातन मायाधीश ही माया का आश्रय लेकर अवतीर्ण होते हैं। उनमें पूर्ण ज्ञान सदा विद्यमान रहता है। उनके जन्म और कर्म दिव्य, निर्मल एवं अलौकिक होते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय शिक्षित समाज जब पूर्ण रूप से पाश्चात्य विलासिता और विदेशी सभ्यता से मोहित हो अपनी संस्कृति को भूल गया था, ऐसे समय पतनोन्मुखी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए भगवान् श्रीरामकृष्ण अवतीर्ण होते हैं तथा मानवों में अन्तर्निहित आत्मशक्ति को जगाकर समाज में चेतना का स्फुरण करते हैं। उनके महान् कार्य को पूर्णता प्रदान करने के लिए जिस महाशक्ति का आविर्भाव हुआ, वह आज समस्त विश्व में श्री माँ सारदा के नाम से पहचानी जाती हैं।

इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण की दैवी शक्ति का उल्लेख

असंगत न होगा। उनके स्पर्श मात्र से ही जीवोद्धार सम्भव था। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि यदि श्रीरामकृष्ण चाहें, तो वे धूलि के एक कण से सहस्रों विवेकानन्द उत्पन्न कर सकते हैं। इससे हमें उनकी दिव्य शक्ति का आभास मिलता है। उन्होंने श्री सारदा देवी की अन्तर्निहित अलौकिक महान् शक्ति का परिचय देते हुए अपने भानजे हृदयराम से कहा था, "उसके भीतर जो (महान् शक्ति) है, उसके रुष्ट हो जाने पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते।" श्रीरामकृष्णदेव माँ सारदा के सम्बन्ध में प्रायः कहा करते थे, "वह सारदा है, सरस्वती है, संसार को ज्ञान देने के लिए आयी है।" एक और अन्य स्थल पर उन्होंने कहा था कि "इस बार वह अपने दिव्य सौन्दर्य को ढककर आयी है, जिससे बुरी नजर से उसे देखने पर किसी का अनिष्ट न हो।" माँ भी अपनी दैवी शक्ति के बारे में सर्वदा सचेत थीं। वे स्वयं यों कहा करतीं, "यह तो साधारण शरीर नहीं, दिव्य शरीर है। दैवी सत्ता से भरपूर है . . .। मुझे और ठाकुर को अलग मत समझना, वे और मैं एक ही हैं। वे मुझ पर मातृत्व की दिव्य महिमा की अभिव्यक्ति का भार सौंप गये हैं।"

श्रीरामकृष्ण देव ने अपनी इस पत्नी और लीला-सहायिका श्री सारदा देवी की षोडशी (त्रिपुरसुन्दरी बाला) के रूप में पूजा की थी तथा उनके पादपद्मों में अपनी साधनाओं के समस्त फल को समर्पित कर दिया था। इस प्रकार उन्होंने नारी-जाति के खोये हुए गौरव एवं मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठित कर जगत् में नारी-जाति के पुनरुत्थान का पथ प्रशस्त किया था। यह तो निर्विवाद सत्य है कि देश तथा समाज की उन्नति के लिए नारी-समाज की उन्नति

अनिवार्य है।

स्वामी विवेकानन्द ने बार बार घोषणा की थी— "नारी-जाति के अभ्युदय के बिना भारत का कल्याण नहीं हो सकता। एक पंख से पक्षी कभी नहीं उड़ सकता।" तो क्या इसीलिए युगावतार श्रीरामकृष्ण ने एक योगिनी भैरवी ब्राह्मणी को गुरु-रूप से ग्रहण किया था और स्वयं पर नारी-भाव का आरोपण कर साधनाएँ की थीं?

श्री सारदा देवी लौकिक जगत् में आदर्श बालिका एवं आदर्श पत्नी थीं। आध्यात्मिक जगत् में वे आदर्श योगिनी, आदर्श साधिका और आदर्श गुरु रहीं। तथापि आदर्श मातृत्व ही उनके जीवन में पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हुआ था। उनके जीवन पर गम्भीर चिन्तन करने से विदित होता है कि वे कैसी दैवी शक्तिसम्पन्ना थीं। प्रारम्भ में श्रीराम-कृष्णदेव के अन्तरंग शिष्यगण भी उनकी महिमा का अनुमान नहीं कर सके थे। श्रीरामकृष्ण देव की महासमाधि के उपरान्त सर्वप्रथम स्वामी विवेकानन्दजी ने श्री सारदा देवी की महिमा को पहचाना था, उन्हें श्री माँ की शक्ति पर अपार विश्वास था। वे कहा करते थे कि श्री माँ की कृपा से ही वे विशाल समुद्र को पार कर पश्चिमी देशों को जा सके थे। उन्होंने अमेरिका से अपने गुरुभाई स्वामी शिवानन्दजी को सन् १८९४ ई. में एक पत्र में लिखा था, "माँ के जीवन का विलक्षण महत्व तुम लोग अभी नहीं समझ सके हो—तुममें से एक भी नहीं, परन्तु धीरे धीरे तुम जानोगे। शक्ति के बिना संसार का उद्धार नहीं हो सकता। क्या कारण है कि संसार के सब देशों में हमारा देश ही सबसे अधिक बलहीन और पिछड़ा हुआ है? इसका कारण यही है कि वहाँ शक्ति का निरादर होता है। उस अनुपम शक्ति

को भारत में पुनः जाग्रत् करने के लिए माँ का जन्म हुआ है, और उन्हें केन्द्र बनाकर फिर से गार्गी और मैत्रेयी का जन्म संसार में होगा।"

पुराण-युग की सीता, सावित्री, दमयन्ती आदि पति-व्रताओं की कहानियों से हम भली-भाँति परिचित हैं। मगर उपनिषद्-कालीन नारी-ऋषियों के बारे में बहुत कम लोग ही जानते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने उस युग की गार्गी और मैत्रेयी का बार बार उल्लेख किया है। पहले हम थोड़ा मैत्रेयी का स्मरण करें :—

याज्ञवल्क्य ऋषि ने संन्यास ग्रहण करने से पूर्व अपनी पार्थिव सम्पदा का वितरण अपनी दोनों पत्नियों—कात्यायनी और मैत्रेयी —के बीच कर देना चाहा। तब मैत्रेयी ने कहा, "जिसके द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति नहीं होती हो, उस सम्पदा को लेकर मैं क्या करूँ ? अपितु आप अमरत्व-लाभ के सम्बन्ध में जो जानते हैं, वही कृपा करके मुझे बताइए।" तब ऋषि ने सन्तुष्ट हो मैत्रेयी को ब्रह्मतत्त्व का उपदेश देते हुए कहा, "पति पति होने के कारण प्रिय नहीं होता, न ही पत्नी पत्नी होने के कारण प्रिय होती है, केवल आत्मा के कारण ही वे सब प्रिय होते हैं।"

यह प्राचीन युग की बात है। मगर आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण और श्री माँ सारदा देवी के जीवन में भी बहुत कुछ इसी प्रकार की घटना हुई थी। जब सारदा देवी पहली बार दक्षिणेश्वर आयीं, तब परमहंस देव ने उनसे पूछा, "क्या मुझे संसार में खींचने की इच्छा है ?" श्री माँ ने तुरन्त उत्तर दिया था, "वैसा क्यों होगा ? मैं तो तुम्हारे आध्यात्मिक जीवन में सहायता करने के लिए आयी हूँ।"

एक और उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है। जब लक्ष्मी-

नारायण मारवाड़ी ने श्रीरामकृष्ण की सेवा के लिए श्री माँ को धन देने का प्रस्ताव रखा, तो श्री माँ ने उस प्रस्ताव को तत्क्षण ठुकरा दिया। श्रीरामकृष्ण के ही समान उनके भी जीवन में त्याग कूट-कूटकर भरा हुआ था। उनके सान्निध्य में रहते हुए भी श्री माँ ने कठोर साधनाएँ की थीं और आध्यात्मिक राज्य में सुप्रतिष्ठित हो प्राचीन भारत की आदर्श नारियों का ज्वलन्त उदाहरण विश्व के सामने रखा था। श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि के उपरान्त उन्होंने अनेक मुमुक्षुओं का पथ-प्रदर्शन किया था एवं उनके मन में शान्ति और अनिर्वचनीय आनन्द का संचार किया था।

वैदिक युग की नारियाँ केवल आत्मविद्या से ही युक्त नहीं थीं, वे तर्क-विचार करने में भी निपुण थीं। यह जानने के लिए कि "कौन सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी है," महाराज जनक के दरबार में एक विशाल सभा का आयोजन किया गया था। गार्गी ने इस सभा में भाग लेते हुए ज्ञानीशिरोमणि याज्ञवल्क्य से आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में कठिन प्रश्न पूछे थे। उन प्रश्नों को सुन सभासदों ने गार्गी की तीक्ष्ण बुद्धि की भूरि भूरि प्रशंसा की थी।

इस युग में श्री सारदा देवी भी गार्गी की तरह तीक्ष्ण बुद्धिमती थीं। उनके जीवन में भी हमें उनके युक्ति-विचार का, उनकी बुद्धि का बहुत परिचय मिलता है। श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि के उपरान्त रामकृष्ण संघ में उत्पन्न अनेक जटिल समस्याओं का समुचित समाधान प्रस्तुत कर श्री माँ ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था

विदेश-यात्रा करने से पूर्व जब स्वामी विवेकानन्द अनिश्चय की स्थिति में थे, तो उन्होंने श्री माँ को पत्र लिखा। श्री माँ ने जाने की सम्मति देते हुए तुरन्त उत्तर भेजा। राम-

कृष्ण संघ के संन्यासीगण स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से "शिव-ज्ञान से जीव-सेवा" का व्रत ग्रहण कर विभिन्न सेवा-कार्यों में संलग्न थे। उस समय, कुछ संन्यासी और गृहस्थ शिष्यों के मन में यह संशय उत्पन्न हुआ कि यह जीव-सेवा का व्रत श्रीरामकृष्णदेव का अभीष्ट नहीं था। उन्होंने सोचा कि स्वामी विवेकानन्द अपने विदेश-भ्रमण से यह भाव अपने साथ आयातित करके ले आये हैं। श्री माँ जब काशी गयीं, उन्होंने रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम के कार्यकलापों को घूम-घूमकर देखा। वह सब देख वे अत्यन्त प्रसन्न हुईं और वहाँ से अपने निवासस्थान पर पहुँचने के बाद एक सेवक द्वारा दस रुपये सेवाश्रम के लिये भिजवाये। वे सेवा-कार्य की बहुत प्रशंसा करते हुए बोलीं, "सेवाश्रम में ठीक ठीक नारायण-सेवा हो रही है। ठाकुर के उपदेशानुसार ही नरेन्द्र (विवेकानन्द) ने सेवाश्रम स्थापित करके नर-रूपी नारायण की सेवा हेतु यह महान् कार्य आरम्भ किया है।" यह सुन सबके मन का संशय दूर हो गया।

इतना ही नहीं, अपनी साधन-लब्ध अन्तर्दृष्टि द्वारा श्री माँ कठिन दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर सहज सरल भाषा में दे देती थीं। उनकी विशिष्टता यह थी कि उन्होंने अपने जीवन में प्राचीन भारतीय नारी के आदर्श की मर्यादा का आधुनिक नारी के दृष्टिकोण के साथ सुन्दर समन्वय किया था। फलस्वरूप उनके जीवन में सर्वोत्कृष्ट नारी-आदर्श का पूरी तरह विकास हुआ था।

श्री माँ निरक्षर होकर भी ज्ञान की परमोच्च अवस्था में पहुँची हुई थीं। उन्होंने असंख्य लोगों के हृदय में ज्ञानदीप प्रज्वलित किया था। श्रीरामकृष्ण तो बहुधा समाधिमग्न हो जाया करते थे, किन्तु माँ अपनी समाधि-स्थिति को

छिपाकर साधारण नारी के समान आचरण किया करती थीं। उनमें परस्पर-विपरीत भावों की अवस्थिति एक ओर जैसे आश्चर्य उत्पन्न करती, वैसे ही दूसरी ओर एक अत्यन्त मधुर रस की भी सृष्टि करती। स्वभावतः माँ अति लज्जा-शीला थीं तथा भारतीय कुलवधू की नाईं घूँघट रखती थीं, मगर आवश्यकता पड़ने पर सिंहिनी का रूप भी धारण कर लेती थीं। उदाहरणार्थ, विकृत-मस्तिष्क हरीश को उन्होंने पाँव के नीचे दबाकर उसकी जीभ को खींच लिया था। सरल, अबला बालिका होते हुए भी डाकू के समक्ष साहसपूर्वक खड़ी हो अपनी संगिनियों से बिछुड़ जाने की बात बतायी थी और गन्तव्य तक पहुँचा देने का उससे अनुरोध किया था।

माँ स्वयं पढ़-लिख नहीं सकी थीं, किन्तु अपनी भतीजी राधू को पढ़ाने के लिए वे सदैव प्रयत्नशील रहीं। नारी-शिक्षा के प्रसार के लिए वे सबको प्रोत्साहित किया करती थीं। भगिनी निवेदिता विद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर उन्होंने अपना आशीर्वाद देते हुए कहा था — "मैं प्रार्थना कर रही हूँ कि इस विद्यालय पर जगन्माता के आशीर्वाद की वर्षा हो तथा इस विद्यालय में शिक्षित हुई बालिकाएँ आदर्श बालिकाएँ बनें।"

यद्यपि माँ ने एक छोटे से गाँव में एक निष्ठावान् ब्राह्मण-परिवार में जन्म लिया था, तथापि वे अति उदार भावसम्पन्ना थीं। उनका सोचने-विचारने का तरीका एक आधुनिक नारी की तरह का था। वे निःसंकोच रूप से विदेशी महिलाओं के साथ भोजन करती थीं। अस्सी वर्ष पहले की भारत की कट्टर सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए यह कार्य अत्यन्त आश्चर्यजनक था। स्वामी विवेकानन्द की

इच्छा थी कि उनकी आयरिश (अँगरेज) शिष्या भगिनी निवेदिता (मिस मार्गरेट नोबुल) किसी हिन्दू घर में रहकर धर्म, रीति, नीति, मर्यादा आदि सब सीख लें। यह जानते ही माँ ने निवेदिता को स्वयं अपने घर में रखकर उनकी सब प्रकार की शिक्षा का भार उठाया। उन दिनों एक ब्राह्मण विधवा नारी का एक विदेशी महिला को घर में रखना और उसके साथ मिल-जुलकर रहते हुए एक साथ खान-पान करना सामान्य साहस की बात नहीं थी। उसमें समाज से बहिष्कृत होने का भय बना हुआ था। पर माँ को इस प्रकार का कोई भय विचलित नहीं कर सका था और उन्होंने अपने प्रिय नरेन्द्र की इस शिष्या निवेदिता को पूरी तरह से अपना लिया था।

तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने माँ की महिमा का गान अपने गुरुभाइयों के निकट किया था। उनकी बातों से उनके गुरुभाइयों का श्री माँ के ऊपर विश्वास धीरे धीरे बढ़ने लगा। फलस्वरूप स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी सारदा-नन्द, स्वामी प्रेमानन्द आदि श्रीरामकृष्ण के प्रमुख शिष्यों ने श्री माँ की महिमा का पूर्ण परिचय पा, श्री माँ को संघ-जननी के रूप में स्वीकार किया था। संघमाता के रूप में श्री माँ अपनी सन्तानों के भीतर त्याग, तपस्या, तितिक्षादि के भावों को जगाया करतीं और उन्हें आदर्श संन्यासी बनने के लिए सर्वदा प्रेरित करती रहतीं।

स्वामी सारदानन्द अपने द्वारा रचित स्तोत्र में श्री माँ की सत्ता का परिचय देते हुए लिखते हैं—

यथाग्नेर्दाहिकाशक्तिः रामकृष्णे स्थिता हि या।
सर्वविद्यास्वरूपां तां सारदां प्रणमाम्यहम्॥

—'जैसे अग्नि में दाहिकाशक्ति निगूढ़ और अविच्छिन्न है,

वैसे ही श्रीरामकृष्ण में शक्ति के रूप में विराजमान सर्व-विद्यास्वरूपिणी श्री सारदा देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।'

स्वामी अभेदानन्द भी श्री माँ की स्तुति करते हुए गाते हैं--

देवीं प्रसन्नां प्रणतार्तिहन्त्रीं
योगीन्द्रपूज्यां युगधर्मपात्रीम् ।
तां सारदां भक्तिविज्ञानदात्रीं
दयास्वरूपां प्रणमामि नित्यम् ॥

--'शरणागतों का सन्ताप हरनेवाली, योगीन्द्र द्वारा पूजित, युगधर्म का संरक्षण करनेवाली, भक्ति और ज्ञान प्रदान करनेवाली उन प्रसन्नमुख दयास्वरूपा सारदादेवी को मैं नित्य प्रणाम करता हूँ।'

माँ की करुणा अपार थी। उनका नवनीत के समान कोमल हृदय दीन-दुःखियों और असहायों की वेदना से द्रवित हो उठता था। पापी-तापी और दुष्ट जन भी उनकी कृपा से वंचित नहीं थे। वे कहा करती थीं, "जैसे शरत् (स्वामी सारदानन्द) मेरा बेटा है, वैसे ही अमजद (मुसलमान डाकू) भी।"

पद्मविनोद ने श्रीरामकृष्ण के दर्शन किये थे, पर कुछ समय बाद कुसंग के कारण वह मदिरापान करने लगा। वह नाट्यशाला से प्रायः अर्धरात्रि के समय लौटा करता था। लौटते समय वह 'उद्बोधन' (श्री माँ के घर) के सामने से निकलता और माँ के दर्शन करने की बड़ी जिद करता। स्वामी सारदानन्द ने कड़े आदेश दिये थे कि उस समय उद्बोधन का द्वार न खोला जाए। एक ऐसी ही रात्रि को पद्मविनोद उद्बोधन के सामने नशे में मस्त हो रास्ते पर गाने लगा-- "उठो हे करुणामयी, खोलो न कुटीर द्वार।" उसके

दोनों नयनों से अश्रुधारा बह रही थी। माँ सन्तान की आकुल पुकार सुन रुक न सकीं। वे अपने कमरे का द्वार खोल बाहर छज्जे पर आ गयीं और दर्शन दे पद्मविनोद के आकुल प्राणों को शान्त किया। पद्मविनोद भी प्रफुल्लित मन लेकर लौट गया।

श्री माँ अपने उपदेशों का मूर्तिमन्त विग्रह थीं। उनका अन्तिम उपदेश स्मरणीय है। उन्होंने कहा था, "देखो, यदि जीवन में शान्ति चाहो, तो दूसरे के दोष न देखना। दोष देखना अपना। सबको अपना बना लेना सीखो। कोई पराया नहीं है, सारी दुनिया अपनी है।" श्री माँ का जीवन उनके इसी उपदेश की व्याख्या है। उन्होंने अपने इस कथन का अक्षरशः आचरण करके एक उज्जवल उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत किया है। एक बार गोलाप-माँ ने उनसे उलाहना के स्वर में कहा था, "माँ, तुम तो किसी के दोष देख नहीं सकतीं, इसीलिए सब तरह के लोगों को आश्रय दे देती हो।" इस पर श्री माँ ने उत्तर दिया था, "गोलाप ! मैं क्या करूँ? मैं लाचार हूँ। मैं जानती हूँ कि कितने अनचाहे लोग भी यहाँ आते हैं, मगर जब वे मुझे 'माँ' कहकर मेरी शरण लेते हैं, तब मैं सब कुछ भूलकर उनको आश्रय दे देती हूँ। अब तुम्हीं बताओ यदि मेरी कोई सन्तान कीचड़ में गिरकर अपने को सान ले, तो क्या उसे साफ करके गोद में लेना मेरा कर्तव्य नहीं है ?"

माँ का यह अपूर्व वात्सल्य ही उनके जीवन की विशिष्टता है। उनके जीवन की दिव्यता उनके इस अनुपम मातृत्व के माध्यम से प्रकाशित होती थी। एक बार स्वामी विवेकानन्द अपने प्रारम्भिक परिव्राजक दिनों में उत्तर भारत जाने से पूर्व श्री माँ के पास आशीर्वाद प्राप्त करने गये।

प्रणाम करके वे श्री माँ से बोले, "बिना आत्मोपलब्धि के मैं नहीं लौटूँगा।" श्री माँ ने आशीर्वाद देते हुए कहा, "अपनी माँ की अनुमति नहीं लोगे?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "मेरी एकमात्र माँ तुम्हीं हो, दूसरी कोई नहीं।"

श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग शिष्यगण स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी सारदानन्द आदि उच्च आध्यात्मिक शक्ति से युक्त थे, तथापि वे भी श्री माँ के समक्ष शिशु के समान हो जाते थे। इधर श्री माँ की उम्र इन शिष्यों से बहुत अधिक नहीं थी। श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि के समय वे केवल ३३ वर्ष की थीं। उसके बाद वे इस धराधाम पर लगभग ३३ वर्ष तक और रहीं। इस अवधि में वे श्रीरामकृष्ण देव के भक्तों के मन को अपने मातृप्रेम से परिपूर्ण करती रहीं।

श्री माँ भक्तों से प्रायः कहा करती थीं, "विपदाओं में अथवा विपरीत परिस्थितियों में ऐसा सोचना कि 'मेरी एक माँ है, वह सदा मेरे पीछे पीछे चलती है, और वही मेरा उद्धार करेगी'।"

श्री माँ की इस अभयवाणी में साधनहीन सन्तानों के लिए कितनी सान्त्वना और शक्ति भरी है!

यह सही है कि माँ ने अपने को लज्जा के आवरण में ढाँककर रखा था, पर इस लज्जाशीलता के कारण वे अपने कर्तव्य के पालन में कभी कोई कमी नहीं आने देती थीं। उनकी लज्जाशीलता वर्तमान युग की नारियों के समक्ष सीखने का एक अभिनव पाठ प्रस्तुत करती है। जब श्री माँ जयरामवाटी में रहतीं, वहाँ अनेक भक्तों का समावेश होता। अपने भक्तों के लिए वे स्वयं भोजन बनातीं और हरएक की रुचि के अनुसार सबको खिलाकर तृप्त करतीं।

श्री माँ के अलौकिक वात्सल्य की एक घटना का उल्लेख

यहाँ पर अनुचित न होगा । श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि के कुछ वर्ष बाद की बात है। उस समय माँ जयरामवाटी में थीं। बंगाल के प्रख्यात नाटककार श्री गिरीशचन्द्र घोष श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों के साथ वहाँ पहुँचे । गिरीश का श्री माँ के समक्ष जाने का यही पहला अवसर था। गिरीश बाबू ने श्री माँ को साष्टांग प्रणाम कर उनकी ओर निहारा और वे तत्क्षण बाहर आकर दूसरे कमरे में जा गहरे विचार में मग्न हो चुपचाप बैठ गये। अचानक उनकी ऐसी स्थिति देख उनके साथी अचरज में पड़ गये और किसी को गिरीश बाबू से कारण पूछने का साहस नहीं हुआ। आखिर स्वामी निरंजनानन्द ने गिरीश बाबू से कारण पूछ ही लिया। गिरीश ने उनसे कहा, "तुम माँ से पूछो तो कि क्या वे वही देवी हैं?" पूछने पर माँ ने उत्तर में कहा — "हाँ"।

बात ऐसी थी कि जब गिरीश १९ वर्ष के थे, तब वे बहुत जोरों से बीमार पड़े। चिकित्सकों ने आशा छोड़ दी । एक दिन ऐसी मरणासन्न अवस्था में जब वे छटपटा रहे थे, तो रात्रि में उन्होंने स्वप्न में देखा कि सारा आकाश एकाएक एक दिव्य ज्योति से देदीप्यमान हो गया। क्रमशः वह ज्योति सर्वत्र फैलकर धीरे धीरे गिरीश के समीप आकर एक दिव्य देवी मूर्ति बन गयी। देवी ने कहा, "बेटा, तुम्हें बहुत कष्ट हो रहा है? लो यह प्रसाद खा लो।" यह कहकर देवी ने जगन्नाथ पुरी के चिउड़े के जैसा प्रसाद गिरीश के मुँह में डाला और फिर अदृश्य हो गयी। धीरे धीरे गिरीश ठीक हो गये। इस दर्शन ने गिरीश के मस्तिष्क पर एक अमिट छाप छोड़ दी थी। उसने नास्तिक गिरीश के मन में देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा जाग्रत् कर दी थी।

प्रायः हो गिरीश स्वप्न में देखो गयी इस देवी के बारे में

सोचा करते कि वह कौन देवी हो सकती है ?" गिरीश ने ५ वर्ष की अल्प आयु में अपनी जन्मदायिनी माता को खो दिया था। उन्हें ऐसा लगता कि हो न हो, मेरी जन्मदात्री माँ ने ही वात्सल्य से प्रेरित हो मुझे देवी रूप में दर्शन दे मेरे प्राण बचाये हैं, और ऐसा सोच, वे अपने मन की जिज्ञासा को शान्त करने का प्रयत्न करते, तथापि यह प्रश्न उनके मन में अब तक अनुत्तरित ही बना रहा था। आज जयरामवाटी में श्रीमाँ को एक नजर देखते ही गिरीश ने जान लिया कि स्वप्न में दिखी देवी श्रीमाँ ही थीं। श्री माँ के उत्तर ने भी उनकी धारणा की पुष्टि कर दी। उस दिन से गिरीश श्रीमाँ की अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति करने लगे और परम मातृभक्त बन गये। और क्या केवल गिरीश घोष, जिसने भी एक बार श्रीमाँ के दर्शन किये, वह जीवन भर उनकी स्नेहमयी मूर्ति को नहीं भूल सका। जगज्जननी का वात्सल्य श्रीमाँ के पावन शरीर को आधार बनाकर अनगिनत रूपों में प्रकट हो रहा था।

नारी-जाति का गौरव मातृत्व में विद्यमान है। मातृभाव सबसे पवित्र भाव है। मातृत्व ही नारी-जाति का चरम आदर्श है। इस निगूढ़ मातृत्व का पवित्र एवं पूर्ण विकास जगन्माता के द्वारा ही सम्भव है और इस समय यह साधित होता है श्रीमाँ सारदा देवी के दिव्य जीवन के माध्यम से इस स्वार्थयुक्त, काम कलुषितएवं दोषमलिन समाज का उद्धार ऐसे ही दैवी मातृत्व के द्वारा सम्भव है। इसलिए संसार-ताप से तप्त हे मानव, आओ ! हम श्रीमाँ के चरणकमलों में शरण लें और अपने चित्त को शीतल करें। हम उनसे प्रार्थना करें कि वे हमें शुभ-बुद्धि प्रदान करें। स्वामी अभेदानन्द के स्वर में स्वर मिलाकर हम भी गाएँ:-

प्रसीद मातर्विनयेन याचे

नित्यं भव स्नेहवती सुतेषु ।
प्रेमैकबिन्दु चिरदग्धचित्ते
विषिञ्च चित्तं कुरू नः सुशान्तम् ॥

—हे माता ! हम पर प्रसन्न होश्रो । मैं विनय पूर्वक याचना करता हूँ कि अपने इन सुतों के प्रति तुम सदैव स्नेहवती बनी रहो । हमारे चिरदग्ध चित्त में प्रेम की एक बूँद सींचकर हमें शान्ति प्रदान करो ।'

•

भय मत करो । मानव जीवन तो कष्टों से भरा पड़ा है और यहाँ भगवान् का नाम लेते हुए सब कुछ धैर्यपूर्वक सहना पड़ता है। कोई भी, यहाँ तक मानव रूप में भगवान् भी शरीर और मन के कष्टों से नहीं बच सके हैं । अवतारों, सन्तों और महापुरुषों को भी कष्ट भोगना पड़ता है क्योंकि वे सामान्य मानवों क त्रुटियों और भूलों के पाप का भार स्वय उठा लेते हैं और इस प्रकार वे मानवता के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग कर देते हैं ।

—श्री सारदा देवी

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :—
केशव चन्द्र सेन

स्वामी प्रभानन्द

दक्षिणेश्वर के परमहंस, जैसा कि श्रीरामकृष्ण उन दिनों जाने जाते थे, एक ओर आध्यात्मिक जगत् की विस्तृत दूरियों को नापनेवाली अपनी साधनाओं के लक्ष्य को पाने में व्यस्त थे, तो दूसरी ओर वे सदैव उन प्रसिद्ध स्थानों को देखने तथा प्रसिद्ध व्यक्तियों से भेंट करने के लिए उत्सुक रहा करते थे, जो किसी न किसी क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट रहे हों। यह एक प्रकार से उनकी धुन-सी बन गयी थी। वे विचार करते, "गीता के अनुसार जो अनेकों द्वारा पूजा जाता है और आदर पाता है, उसमें ईश्वर की विशेष शक्ति होती है।" उनके पास ऐसी खबर पहुँची कि ब्राह्मसमाज के नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७–१९०५) एवं उनके युवा सहायक केशव चन्द्र सेन के समान अन्य ब्राह्मभक्त भी ईश्वर की खूब निष्ठा के साथ प्रार्थना करते हैं। उन्होंने अपने शिष्य मथुरानाथ विश्वास पर एक दिन वहाँ ले चलने के लिए जोर दिया। यह सम्भवतः जनवरी १८६४ के जोरासांको-स्थित ब्राह्मसमाज के उत्सव के समय की बात है। बाद में इस प्रसंग की चर्चा करते हुए वे बतलाते :—

"कई वर्षों पहले एक बुधवार को मैं जोरासांको में ब्राह्मसमाज की धर्मसभा में गया था। उस समय मैंने युवक केशव को व्यास-पीठ पर बैठकर धर्मसभा का संचालन करते देखा था एवं सैकड़ों अनुयायीगण उसके दोनों तरफ बैठे हुए थे। ध्यान से देखने पर मुझे दिखा कि केशव का मन ब्रह्म में डूबा है, चारा जल में डूब गया है। उस दिन से केशव

के प्रति मेरे मन में लगाव उत्पन्न हो गया। सभा में अन्य लोग ऐसे प्रतीत हुए मानो हथियार लेकर बैठे हों। उन लोगों के चेहरे देख मुझे लगा कि अभी उन लोगों के मन में संसार के प्रति आसक्ति, अहंकार एवं वासना अत्यधिक प्रबल है।" 1

केशव की उम्र उस समय केवल छब्बीस वर्ष की थी और वे उस समय अविभाजित ब्राह्मसमाज में थे।

राममोहन राय (१७७२–१८३३) के नेतृत्व में १८२८ में शुरू किये गये इस ब्राह्मसमाज ने अपने द्वितीय उत्तराधिकारी देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व संभालने के एकदम बाद ही अपने आन्दोलन में गति पा ली थी।2 सन् १८५७ में केशव चन्द्र सेन के इसमें चुपचाप प्रविष्ट हो जाने से इस आन्दोलन के लिए एक नये युग का सूत्रपात हुआ, जिसमें बहुत बड़ी सम्भावनाओं के साथ विभाजन का भी खतरा विद्यमान था। प्रारम्भ में उसके सदस्यों के बीच सैद्धान्तिक समरसता का अभाव इतना स्पष्ट नहीं था, तो भी वह था तो। १३ अप्रैल १८६२ को केशव के औपचारिक रूप से ब्राह्मसमाज के आचार्य (उपदेशक) के पद पर आसीन होते ही ये आन्तरिक

. 'प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९३६ में पृ. ९० पर छपा गिरीश चन्द्र सेन का लेख 'श्रीरामकृष्ण परमहंस'। इसी से मिलता-जुलता श्रीरामकृष्ण का स्वयं का कथन है। ('श्रीरामकृष्णवचनामृत', लेखक श्री 'म', रामकृष्ण मठ, नागपुर, तृतीय भाग, तृ. सं.; पृ. ११५)।

2. ब्राह्मसमाज के महान् नेताओं के सम्बन्ध में संक्षिप्त एवं सारगर्भित जानकारी के लिए रोमाँ रोलाँ लिखित 'रामकृष्ण परमहंस' (लोकमाऱ्य प्रकाशन) का 'ऐक्य-निर्माता' अध्याय पढ़ें।

मतभेद ऊपरी सतह पर आ गये। जहाँ केशव के आकर्षक व्यक्तित्व से बहुत से श्रद्धालु, विशेषकर उनके समवयस्क, उनकी ओर खिंच गये, वहीं उनके नवाचारों से समाज के परम्परागत दृष्टिकोण पर बारम्बार आघात होने लगे। इससे दोनों में गहरा मतभेद पैदा हो गया और समय पाकर खाई बढ़ती ही गयी। देवेन्द्रनाथ परम्परावादी लोगों का 'आदि ब्राह्मसमाज' के नाम से नेतृत्व करते रहे और केशव तथा उनके युवा सहयोगियों ने अलग होकर नवम्बर १८६६ में 'भारतीय ब्राह्मसमाज' की स्थापना की।

पिता प्यारीचरण सेन और माता सरस्वसुन्दरी देवी के पुत्ररूप से सन् १८३८ में जन्मे केशव ने बहुत बचपन में अपने पिता को खो दिया था। उनके परिवार के लोग भगवान् कृष्ण के उत्साही भक्त थे। उनकी शिक्षा प्रेसिडेंसी कालेज में हुई थी और उनकी यह बौद्धिक शिक्षा उनकी आस्था के लिए काल बन गयी। ईसा ने उनके हृदय को प्रभावित कर लिया था और यह सम्बन्ध उन्हें ईसाई धर्म की ओर झुकाता रहा। ईसा के अघोषित प्रवक्ता के रूप में उन्होंने ब्राह्म-आन्दोलन में नये तत्वों का समावेश कर दिया, जिससे छोटे-बड़े सबमें काफी भ्रम उत्पन्न हो गया और वही समाज को विभाजन की ओर ले गया। "'आदि ब्राह्मसमाज' ने पुरातन हिन्दू धर्म की परम्पराओं के प्रति आस्था रखते हुए अपने को हिन्दुओं के सुधार की संस्था माना, जबकि 'भारतीय ब्राह्मसमाज' ने अपने को उदार और व्यापक विचारों का हिमायती घोषित किया तथा वह ईसा और ईसाईयत के साथ अपने को विशेष रूप से जोड़ने का प्रयास करने लगा।"[3] १८७० में केशव इंग्लैण्ड गये और वहाँ

3. शिवनाथ शास्त्री लिखित 'दि ब्राह्म समाज' (संक्षिप्त),

उन्होंने अपने वक्तृत्व तथा आध्यात्मिक उत्साह से लोगों को प्रभावित किया। वहाँ से लौटकर उन्होंने सामाजिक सुधार प्रारम्भ किया। भारत के विभिन्न हिस्सों में ब्राह्मसमाज की शाखाएँ बनायी गयीं। १८७२ में एक अनोखी संस्था 'भारत आश्रम' की स्थापना हुई, जिसमें केशव, उनके मिशनरी सहायक और बहुत से ब्राह्मभक्त अपने परिवार के साथ रहते थे। केशव समाज को अध्यात्म और नैतिकता के उच्च स्तरों की ओर उठाना चाहते थे। तथा प्रयास कर रहे थे कि सभी सांसारिक सम्बन्ध धार्मिक बन्धुत्व में बदल जायँ। यद्यपि यह एक सुन्दर परिकल्पना थी, पर शीघ्र ही संस्था में आन्तरिक मतभेद उभर आये और तब श्रममुक्त केशव कुछ समय के लिए कलकत्ते से कुछ मील दूर बेल-घरिया ग्राम के जयगोपाल सेन के उद्यान-भवन में विश्राम के लिए चले गये।

सन् १८७६ से 'भारतीय ब्राह्मसमाज' भी पुनः दो दलों में विभाजित हो गया। एक का नेतृत्व केशव और उनके साथियों के हाथ में था तथा दूसरे में अपेक्षाकृत कम उम्र के लोग थे, जो चर्च-व्यवस्था के समान संवैधानिक नियमों के पालन करने के पक्ष में थे। इस दूसरे वर्ग ने मई १८७८ में 'साधारण ब्राह्मसमाज' का गठन किया, जबकि पहला वर्ग जनवरी १८८० में 'नव विधान' के रूप में उभरकर सामने आया।

केशव की प्रतिभा का मूल आधार था उनकी असंगता और आत्मत्याग। वे स्वयं इसका पालन करते और चाहते कि अन्य लोग भी इसका पालन करें। इस प्रकार उद्यान-भवन में केशव अपने अन्तरंग साथियों के

(साधारण ब्राह्मसमाज, १९५८) पृ. ३४।

साथ अपने दिन भजन, शास्त्र-अध्ययन, जप-ध्यान एवं गूढ़ विषयों पर चर्चा करते हुए बिता रहे थे। वृक्ष के नीचे अपना भोजन बना एवं खुली जगह में बैठ भोजन करते हुए तथा कठोर नियमों का पालन करते हुए वे आत्मसंयम और वैराग्य की प्राप्ति के लिए साधना कर रहे थे।

जबकि ब्राह्म-आन्दोलन समाज-सुधार प्रारम्भ कर भारत की तत्कालीन राजधानी के लोगों में धार्मिक उत्साह जगा रहा था, तब दक्षिणेश्वर के परमहंस ने चुपचाप एक ऐसे आध्यात्मिक स्तम्भ का निर्माण किया था, जो जात-पांत, सम्प्रदाय, उम्र और लिंग आदि भेदों से ऊपर उठकर आध्यात्मिक शक्ति और विश्वास की किरणें चहुँओर विकिरित कर रहा था।

सन् १८७५ के आसपास श्रीरामकृष्ण के भीतर केशव चन्द्र सेन से मिलने की इच्छा अत्यन्त तीव्र हो उठी। केशव उस समय के सबसे प्रसिद्ध भारतीय धार्मिक समाज-सुधारक बन गये थे। श्रीरामकृष्ण तो सदा जगन्माता के आदेश पर निर्भर रहा करते थे। एक दिन भावसमाधि में माता से उन्हें केशव से मिलने का आदेश मिला। "उन्होंने जगन्माता के मुख से सुना कि केशव जगन्माता के काम में सहायक होंगे।"[4] जब वे उस विचार पर चिन्तन कर रहे थे, तब उन्हें एक दर्शन प्राप्त हुआ, जिसका उन्होंने बाद में यों वर्णन किया था—

"केशव से मुलाकात होने के पहले ही उसे मैंने देखा था! समाधि-अवस्था में मैंने देखा केशव और उसके

4. चिरंजीव शर्मा (त्रैलोक्यनाथ सान्याल के नाम से भी परिचित) लिखित 'केशव-चरित' (बँगला), तृतीय संस्करण, १८९७, पृ. २४९।

बल को। कमरे में ठसाठस भरे हुए आदमी मेरे सामने बैठे हुए थे। केशव को मैंने देखा, उन लोगों में मोर की तरह अपने पंख फैलाये बैठा हुआ था। पंख अर्थात् दल-बल । केशव के सिर में, देखा, एक लाल मणि थी। वह रजोगुण का लक्षण है। केशव अपने चेलों से कह रहा था — 'ये (श्रीरामकृष्ण) क्या कह रहे हैं, तुम लोग सुनो।' माँ से मैंने कहा, 'माँ , इन लोगों का अँगरेजी मत है, इनसे क्या कहना है ?' फिर माँ ने समझाया, कलिकाल में ऐसा ही होता है। तब यहाँ से (मेरे पास से) वे लोग हरिनाम तथा माता का नाम ले गये।"[5]

ऐसा दर्शन होने पर श्रीरामकृष्ण ने अपने एक भक्त नारायण शास्त्री को केशव के पास भेजा था। इस घटना का श्रीरामकृष्ण ने यों वर्णन किया है —

"केशव को देखने से पहले नारायण शास्त्री से मैंने कहा, तुम एक बार जाकर उसे देख आओ और मुझे बताओ कि वे कैसे आदमी हैं। वह देखकर जब आया, तब कहा, वह जप करके सिद्ध हो गया है। नारायण ज्योतिष जानता था। उसने कहा, 'केशव सेन भाग्य का बड़ा जबरदस्त है।' ...तब मैं हृदय को साथ लेकर बेलघरिया के बगीचे में केशव से मिला ।"[6]

१४ मार्च १८७५ [7] की सुबह श्रीरामकृष्ण अपने सेवक एवं भानजे हृदयराम मुखर्जी के साथ केशव के कोलू-

5 . श्री 'म' कृत 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', तृतीय भाग, तृ. सं., पृ. २७१ ।

6 . वही, द्वितीय भाग, पंचम संस्करण, पृ. २३२ ।

7 . उपाध्याय, गौर गोविन्द राय : 'आचार्य केशवचन्द्र' (बँगला), पृ. १०४१ । 'श्रीरामकृष्ण परमहंस देवेर जीवन वृत्तान्त' (बँगला), श्रीरामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता ५४,

टोलावाले मकान [8] पर गये, जहाँ उन्हें पता चला कि केशव उस समय बेलघरिया के उद्यान-भवन में हैं। [9] इस लिए वे दक्षिणेश्वर वापस लौट आये और दूसरे दिन सुबह फिर हृदयराम के साथ एक पुरानी बग्घी [10] में बेलघरिया के लिए रवाना हुए। गाड़ी में बैठने के पूर्व उन्हें भावसमाधि लग गयी थी। उन्हें बुदबुदाते हुए सुना गया था, "माँ, तुम चलोगी ? केशव को देखने तुम चलोगी ?" इस प्रकार के प्रश्न कई बार दुहराये गये थे और उनके बाद उनके उत्तर होते, "हाँ, जरूर।" उनका यह भाव गाड़ी में बैठ जाने के बाद भी बना रहा। अन्त में

सप्तम संस्करण, पृ. ६० में रामचन्द्र दत्त का यह कथन एवं 'धर्मतत्त्व' में एक प्रसंग में यह उल्लेख कि भेंट १८७२ में हुई थी, मान्य नहीं किया जा सकता। अन्य सन्दर्भ जिनमें वर्ष १८७५ का उल्लेख है, इस प्रकार हैं : 'दि लाइफ ऑफ श्री रामकृष्ण', अद्वैत आश्रम, १९६४, पृ. २६८; 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', प्रथम खण्ड, पृ. ४६०; 'प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९३६ के कई लेख।

8 . अक्तूबर १८७७ तक केशव इस पतेवाले मकान से लिली काटेज, ७२ अपर सर्कुलर रोड, कलकत्तावाले मकान में रहने नहीं गये थे।

9 . 'प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९३६, पृ.९३ में सेवक प्रिय नाथ मलिक का लेख 'श्रीरामकृष्ण परमहंस' : "१८७५ में वे (श्रीरामकृष्ण) केशव के कोलूटोलावाले मकान में गये थे; वहाँ उन्हें न पा फिर बेलघरिया के उस उद्यान में गये, जहाँ केशव अपने सहयोगियों के साथ 'साधना' में लगे हुए। केशव उस उद्यान को तपोवन कहते थे।"

. बहुत सम्भव है कि श्रीरामकृष्ण विश्वनाथ उपाध्याय

सुबह ९ बजे के करीब वे जयगोपाल सेन के उद्यान-भवन में पहुँचे ।[11]

हृदयराम उतरकर उद्यान-भवन के भीतर गये और केशव से कहा, "मेरे मामा भजन और भगवच्चर्चा के प्रेमी हैं। वे जब वह सब सुनते हैं, तो प्रायः समाधि-मग्न हो जाते हैं। उन्होंने सुना है कि आप ईश्वर के बहुत बड़े भक्त हैं, इसलिए वे आपके पास भगवान् की महिमा का गुणानुवाद सुनने आये हैं। आपकी अनुमति मिलने पर मैं उन्हें यहाँ भीतर ले आऊँगा।" केशव ने अवश्य अपनी अनुमति दे दी ।

हृदयराम ने सहारा दे श्रीरामकृष्ण को गाड़ी से उतारा और बगीचे के भीतर ले गये। पहले वे अन्दर बने तालाब के समीप गये और नैऋत्य दिशा में बने घाट पर उन्होंने हाथ-पैर धोये। सुबह की उपासना शेष हो गयी थी और केशव अपने अनुयायियों के साथ पूर्व की ओर के बड़े घाट की सीढ़ियों पर बैठे थे। वे लोग नहाने

की गाड़ी में बैठकर न गये हों, जैसा कि स्वामी सारदानन्द ने 'श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग' में लिखा है । यहाँ हमें इस बात पर विचार करना होगा कि हिन्दू धर्म के कट्टर अनुयायी विश्वनाथ यूरोपियन विचारधारा से प्रभावित केशव के कड़े आलोचक थे, और इसलिए ऐसा नहीं लगता कि श्रीरामकृष्ण ने इस यात्रा के लिए उनकी गाड़ी उपयोग में लायी होगी ! ब्राह्मसमाज के नेताओं ने, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण को उस समय देखा था, लिखा है कि श्रीरामकृष्ण उस दिन सबसे कम भाड़ेवाली बग्घी में आये थे। ('प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९३६, पृ. ८९)

11. गुरुदास बर्मन : 'श्रीश्रीरामकृष्ण चरित' (बंगला,

की तैयारी कर रहे थे। अब उनका ध्यान श्रीरामकृष्ण की ओर आकृष्ट हुआ, जो उस समय लगभग चालीस वर्ष के थे, प्रायः क्षीणकाय थे तथा उनके चेहरे पर एक छोटी-सी अस्तव्यस्त दाढ़ी थी और केश बिखरे हुए थे। उनकी देह पर मात्र एक लाल किनार की धोती थी, जिसका एक छोर समेटा हुआ बायें कन्धे पर झूल रहा था। शरीर पर ढाँकने के लिए और न तो कुरता था, न चादर। वे नंगे पैर थे। हृदयराम उनकी तुलना में सर्वथा विपरीत एक बलिष्ठ शरीर और ऊँचे कदवाले आदमी थे।

वहाँ पहुँच, जैसा कि श्रीरामकृष्ण का स्वभाव था, उन्होंने केशव और अन्य उपस्थित जनों को नम्रतापूर्वक झुककर नमस्कार किया। ऐसा प्रतीत होता है कि न तो केशव ने और न ही उनके साथियों में से किसी ने नमस्कार का उत्तर दिया।[12] तथापि उन लोगों ने आगन्तुकों को बैठने के लिए आसन दिये। स्पष्ट ही केशव और उनके

कालीनाथ सिन्हा, १३ निकासीपारा लेन, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित), प्रथम संस्करण, पृ. १४८–९ में आने का समय ३ बजे मध्याह्न बतलाते हैं। स्वामी सारदानन्द 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' में '१ बजे' लिखते हैं। परन्तु दोनों की जानकारी का एक ही स्रोत है और वे हैं हृदयराम; जबकि अक्षयकुमार सेन कहते हैं '११ बजे'; तथा ब्राह्मनेता गिरीशचन्द्र सेन ('प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९३६, पृ. ८९), प्रतापचन्द्र मजूमदार, उपाध्याय एवं गोविन्दराय तथा अन्यान्य जो वहाँ उपस्थित थे, उनके अनुसार '९ बजे प्रातः' या उससे भी पहले। उस समय की परिस्थिति से भी यही समीचीन लगता है (स्नान का समय, आदि)।

12. महेन्द्रनाथ दत्त अपने 'श्रीरामकृष्ण अनुध्यान' (बँगला)

साथियों ने श्रीरामकृष्ण को सन्देह की दृष्टि से ही देखा और उन्हें एक साधारण व्यक्ति ही समझा। 13

श्रीरामकृष्ण ग्रामीण बंगला में थोड़ा तुतलाते

में बतलाते हैं कि उस समय कलकत्ता में काफी झुककर नमस्कार करने की अधिक प्रथा नहीं थी। श्रीरामकृष्ण स्वयं अपने एक अनुभव का वर्णन यों देते हैं, "कोलूटोला के मकान पर भेंट हुई। हृदय साथ था। केशब जिस कमरे में था, उसी कमरे में हमें बैठाया। मेज पर शायद कुछ लिख रहा था, बहुत देर बाद कलम छोड़कर कुर्सी से नीचे उतरकर बैठा। हमें नमस्कार आदि कुछ नहीं किया...। वह यहाँ कभी आता था ...। वह जब भी आता, मैं स्वयं उसे नमस्कार करता था; तब उसने धीरे धीरे भूमिष्ठ होकर नमस्कार करना सीखा।" ('श्रीरामकृष्णवचनामृत', द्वितीय भाग, पंचम संस्करण, पृ. १२१)।

13. प्रतापचन्द्र मजूमदार : 'दि लाइफ एंड टीचिंग्स ऑफ केशब चन्द्र सैन', १८८७, पृ. ३५७ : "एक दिन सुबह ...एक अस्तव्यस्त सा युवा व्यक्ति, जिसके शरीर पर पर्याप्त वस्त्र भी न थे तथा लोक-व्यवहार में जो अत्यन्त सामान्य से भी कम था, आया। ...उसको देखने से वह इतना निश्छल और सीधा-सादा लगा तथा अपने परिचय में भी उसने इतना कम कहा कि पहले हम लोगों ने उसकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। पर शीघ्र ही वह अर्धबाह्यावस्था में वार्तालाप करने लगा तथा बीच बीच में उसका बाह्य ज्ञान पूरी तरह से लुप्त हो जाता। तथापि उसकी बातें सुन और उसकी बातों की गहराई एवं विलक्षणता को देख हम जल्द ही समझ गये कि वह साधारण मनष्य नहीं है।"

हुए-से बोलते, जो बहुत मधुर लगती थी। उन्होंने केशव से पूछा, "क्या सच है, बाबू, कि तुम्हें ईश्वर के दर्शन हुए हैं ? वे कैसे हैं यह जानने की मेरी बहुत इच्छा है। इसीलिये मैं तुम्हें देखने के लिए आया हूँ।" केशव का यदि कुछ उत्तर भी रहा हो, तो वह अब उपलब्ध नहीं है। कुछ वार्तालाप के बाद, आगन्तुक मधुर कण्ठ से राम-प्रसाद का एक भजन गा उठे — "कौन जानता है कि काली कैसी है ? षड्दर्शन भी उसका दर्शन नहीं करा पाते। शास्त्र कहते हैं कि काली आत्माराम की आत्मा है। वह इच्छामयी अपनी इच्छा के अनुसार घट घट में विराज रही है . . . ।"

श्रोता लोग गीत का भाव ठीक ठीक समझ पाते उससे पहले ही गायक दिव्य भाव में इतने लीन हो गये कि बाह्य जगत् के प्रति उनकी समूची चेतना का लोप हो गया। उन्हें समाधि लग गयी। उनका पूरा शरीर पहले ढीला हो फिर अकड़-सा गया। उनके दोनों हाथ उनकी गोद में पड़े रहे और उँगलियाँ आपस में बँध गयीं। "उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु बह चले। यदा-कदा उनके होठों पर मधुर मुस्कान खिल उठती।"[14] वे निश्चल बैठे थे तथा उनकी दृष्टि स्थिर थी। बाहर के लिए वे इतने बेसुध थे कि लगता था मानो उनकी साँस ही नहीं चल रही है। शरीर में रोमांच हो आया था। वैसे देखनेवालों के लिए वह एक असाधारण घटना थी, पर उन लोगों ने उस भावावस्था को मात्र ढोंग या मूर्छा या किसी प्रकार का चमत्कार ही समझा था।

स्वामी सारदानन्द कृत 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' से भी तुलना करें।

14. राय, वही, पृ. १०४३।

श्रीरामकृष्ण की ऐसी अवस्था देख हृदयराम उनके कानों में बार बार प्रणव का उच्चारण करने लगे तथा अन्य उपस्थित जनों से भी उसे दुहराने के लिये उन्होंने निवेदन किया। उनके अनुरोध पर वे लोग भी वैसा करने लगे। इससे एक गहरा आध्यात्मिक वातावरण बन गया, उससे श्रीरामकृष्ण के मन को बाह्य जगत् में उतारने में सहायता मिली। एक अलौकिक मुसकान के साथ श्रीरामकृष्ण ने बोलना शुरू किया, पहले तो अर्धभावावस्था में ही। उनकी भाषा घरेलू और प्रभावशाली थी, उनकी बातों में दैनिक जीवन में घटनेवाली घटनाओं और लोकोक्तियों का सुन्दर पुट था। उनकी बातों ने सबका ध्यान अपनी ओर खींच लिया और उन लोगों की कल्पनाशक्ति को जाग्रत् कर दिया। श्रोताओं को यह विश्वास हो गया कि "श्रीरामकृष्ण साधारण मनुष्य न होकर एक दैवी पुरुष हैं।" 15 उनके शब्दों ने तथा कहने की शैली ने श्रोताओं को विभोर कर दिया।

इसके बाद तो श्रीरामकृष्ण ने ही अधिकांश बातें कीं और अन्य सब उन्हें श्रद्धापूर्वक सुनते रहे। "दिव्य भाव में अभी भी डूबे हुए वे कहने लगे :—

---

15. गिरीशचन्द्र सेन, वही।

16. सेन, वही, पृ. ९१ : "केशव . . . इस निरक्षर परमहंस के पास एक शिष्य की भाँति, एक छोटे भाई के समान, विनम्रतापूर्वक बैठकर उनके उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुनते हुए हृदयंगम करते। उनसे वे कभी तर्क नहीं करते। परमहंस देव की बातों को अच्छी तरह समझकर अपने जीवन में आत्मसात् करते।"

प्रियनाथ मल्लिक, वही प. ९४ : "ऐसी बैठकों में

"एक कहानी सुनो। एक बार एक आदमी जंगल में गया और वहाँ एक वृक्ष पर उसने एक छोटा सा प्राणी देखा। लौटकर उसने एक दूसरे आदमी को बताया कि उसने अमुक झाड़ पर एक लाल रंग का सुन्दर प्राणी देखा है। दूसरे आदमी ने उत्तर दिया, 'जब मैं जंगल गया था, तब मैंने भी उस प्राणी को देखा था। पर उसे तुम लाल क्यों कहते हो? वह तो हरा है।' एक अन्य व्यक्ति जो वहाँ उपस्थित था, ने दोनों की बात काटते हुए कहा कि नहीं वह तो पीला है। तभी अन्य लोग भी इकट्ठे हो गये और बतलाने लगे कि वह भूरा है, नारंगी है, नीला है आदि आदि। अन्त में विवाद बढ़ते बढ़ते झगड़े की नौबत आ गयी, तब फैसला करने के लिए वे सब उस वृक्ष के पास गये। उन्होंने वहाँ उसके नीचे एक आदमी को बैठे देखा। पूछने पर उसने उत्तर दिया, 'हाँ, मैं इस वृक्ष के नीचे ही रहता हूँ और उस प्राणी को अच्छी तरह जानता हूँ। तुम लोगों ने जो जो वर्णन किया, वह सब सही है। कभी वह लाल दिखता है, तो कभी पीला, कभी नीला, तो कभी नारंगी, या कभी भूरा या अन्य कुछ। वह है गिरगिट। और कभी तो उसका कोई रंग ही नहीं होता। अभी उसका रंग है, फिर थोड़ी देर में कुछ नहीं है।'

"इसी प्रकार जो सतत भगवान् का चिन्तन करते हैं, वे जान लेते हैं कि उनका वास्तविक स्वरूप कैसा है, वे ही एकमात्र जानते हैं कि भगवान् अपने भक्तों को अलग अलग रूप में और अलग अलग प्रकार से दर्शन देते हैं। भगवान् सगुण भी हैं; और फिर निर्गुण भी हैं . . .। उन लोगों को छोड़

प्रायः वार्तालाप का एकाधिकार श्रीरामकृष्ण को ही प्राप्त होता। केशव चन्द्र मुश्किल से कभी कुछ कहते। वे केवल अपनी मुसकान से और सिर हिलाकर अपनी प्रशंसा व्यक्त करते।"

अन्य जो हैं, वे ही वृथा तर्क कर दुःख पाते हैं।" 17

श्रीरामकृष्ण प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय को आध्यात्मिक चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के मार्ग का सोपान मानते थे। वे आगे कहने लगे–

"भगवत्-दर्शन के बाद ही कोई उनके सम्बन्ध में ठीक ठीक बतला सकता है। जिसने भगवान् को देखा है, वह जानता है कि वे सगुण भी हैं और फिर निर्गुण भी। फिर वे ऐसे भी हैं, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

"एक बार कुछ अन्धे लोग एक जानवर के पास गये। उन्होंने सुना कि उसे हाथी कहते हैं। उन लोगों से पूछा गया कि हाथी कैसा है ? वे अन्धे लोग टटोलकर देखने लगे। उनमें से एक ने कहा कि हाथी खम्भे के समान है, उसने उसके पैर को छुआ था। दूसरे ने कहा कि हाथी सूपे के समान है, उसने हाथी के कान का स्पर्श किया था। इसी प्रकार अन्य अन्धे लोग हाथी की पूँछ या पेट को छूकर हाथी को अलग अलग रूप से बताने लगे। उसी प्रकार, वह व्यक्ति जिसने ईश्वर के एक ही रूप का दर्शन किया है, ईश्वर को उसी एक रूप में सीमित करके देखता है। उसके मत में ईश्वर और अन्य प्रकार से हो ही नहीं सकते। 18

---

17. बर्मन (वही, पृष्ठ १५०) श्रीरामकृष्ण द्वारा इस विषय में कही गयी कहानी का संक्षेप में सार बतलाते हैं। वैसे ऊपर में उद्धृत शब्द 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', प्रथम खण्ड, तृ. सं., पृ. १४३ से लिये गये हैं। पाद टिप्पणी क्रमांक 18 और 24 के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है, क्योंकि श्रीराम-कृष्ण यह और अन्य कथाएँ विभिन्न समय में विभिन्न लोगों से चर्चा में बतलाते थे।

18. बर्मन : पृ. १५०–१, 'वचनामृत', प्रथम भाग, च. सं.,

ब्राह्म-उपदेशकों का मन वक्ता के स्मित मुखमण्डल पर निबद्ध हो गया था, वे अपने भीतर ही भीतर सोच रहे थे कि ईश्वर या उनकी अनन्त विभूतियों को नापने की उन लोगों की चेष्टा कैसी वृथा है। श्रीरामकृष्ण आगे कहने लगे—

"एक बार एक चींटी चीनी के एक ढेर के पास पहुँची। एक दाना उसने अपने मुख में रखा, वही उसके पेट के लिए पर्याप्त था। दूसरा दाना निगलने की जगह ही न थी। इसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में कौन सब कुछ जान सकता है ? फिर उनकी कृपा बिना उनको कोई समझ भी नहीं सकता। [19]

जैसे जैसे समय बीतता गया, ब्राह्मभक्तगण उत्कण्ठा पूर्वक श्रीरामकृष्ण के वचनामृत का पान करने लगे। यद्यपि सभी लोग उनके उपदेशों का पूरा मर्म हृदयंगम नहीं कर पा रहे थे, फिर भी वे लोग मुग्ध हो उनकी ओर एकटक देखते हुए उनको सुन रहे थे। [20] श्रीरामकृष्ण की दृष्टि केशव पर पड़ी, तब उन्होंने पूछा, "क्या तुमने मिट्टी का सीताफल देखा है ?"

पृ. २२७ ।

19. बर्मन, वही, पृ. १५१ ।

20. रोमाँ रोलाँ द्वारा लिखे 'रामकृष्ण परमहंस' के पृ. १८३ से मिलाएँ—"सबसे बढ़कर दर्शकगण को प्रभावित करनेवाली वस्तु उनका जीवित विश्वास था। . . .जब वे भगवान् की कथा कहते थे तो वे गोताखोर के सदृश, जो कि समुद्र में गोता लगाकर कुछ ही क्षणों में सामुद्रिक शैवाल की गन्ध, व लवण के स्वाद के साथ ऊपर आ जाता है, भगवान् के अन्दर डूब जाते थे। इस गन्ध और आस्वाद के दुर्वार प्रलोभन की कौन उपेक्षा कर सकता है ? पश्चिम की वैज्ञानिक

"हाँ , महाशय ।"

"जिस प्रकार मिट्टी का सीताफल देखने से असली सीताफल की याद आ जाती है, उसी प्रकार काली की मूर्ति देखने से उसके भक्तों के अन्दर चिन्मयी सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी जगन्माता का स्मरण जाग उठता है ।" 21 अब केशव का ध्यान आध्यात्मिक जीवन की ओर खींचते हुए वे कहने लगे—

"आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में कमर कसके अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। बाद में भले ही ये अभ्यास धीरे धीरे कम होते जाते हैं। कच्ची पूड़ी गरम घी में डालने पर पहले छन्न करके जोरों से आवाज करती है, फिर धीरे धीरे उसके पकने पर वह आवाज बन्द हो जाती है। उसी प्रकार ज्ञान के पक्का होने पर बाहरी आडम्बर और चिह्न दूर हो जाते हैं। ये सब तो थोथे ज्ञान के साथ ही जुड़े होते हैं । 22

"...दो प्रकार के साधक होते हैं। एक का स्वभाव बन्दर के बच्चे के समान तो दूसरे का बिल्ली के बच्चे के समान होता है । बन्दर का बच्चा बड़े परिश्रमपूर्वक किसी प्रकार

बुद्धि निस्सन्देह इनका विश्लेषण कर सकती है । परन्तु इसके चाहे जो भी मूल उपादान हों, इसकी संश्लिष्ट सत्ता कभी सन्देह का विषय नहीं रही है । कट्टर से कट्टर सन्देहवादी भी, जब गोताखोर अपने समाधिस्वप्न से वापस आ जाता है, तब उसे स्पर्श कर सकता है । और उसके नेत्रों में समुद्रतल-वर्ती शैवाल का प्रतिबिम्ब देख सकता है । केशव व उनके कुछ शिष्य इसे देखकर विमुग्ध हो गए थे ।"

21. बर्मन : वही, पृष्ठ १५१–२ ।

22. राय, वही, पृ. १०४३ ।

अपनी माँ से चिपटा रहता है। उसी प्रकार कुछ साधक होते हैं, जो सोचते हैं कि भगवान् के साक्षात्कार के लिए बँधी संख्या में उनके नाम का जप करना चाहिए, बँधी अवधि तक उनका ध्यान करना चाहिए और नियत मात्रा में तपस्या करनी चाहिए। इस कोटि का साधक ईश्वर को पकड़ने के लिए स्वयं परिश्रम करता है। पर बिल्ली का बच्चा स्वयं होकर अपनी माँ से नहीं चिपट सकता। वह तो जमीन पर पड़ा बस 'म्याऊँ, म्याऊँ' कहता है। वह सब कुछ अपनी माँ पर छोड़ देता है। उसकी माँ कभी उसे गद्दे पर तो कभी छत पर लकड़ियों के ढेर के पीछे रख देती है। वह अपने मुँह में अपने बच्चे को दबाकर इधर उधर जाती है। बच्चा नहीं जानता कि माँ से कैसे चिपटे। ऐसे ही, कुछ साधक होते हैं, जो जप की मात्रा या ध्यान की अवधि निर्धारित करके साधना नहीं कर पाते। वे बस आकुल हृदय से ईश्वर को पुकारते हैं। ईश्वर उनकी पुकार सुनते हैं और वे अपने को उन लोगों से दूर नहीं रख पाते। वे उन लोगों के निकट अपने को प्रकट करते हैं।" 23

मुग्ध श्रोताओं को यह भी पता न चला कि दोपहर के भोजन का समय काफी पहले बीत चुका है। अनन्त करुणा और अगाध ज्ञान से भरे सन्त के उपदेशों से श्रोताओं को ऐसा लग रहा था मानो वे उनके अपने हैं, अत्यन्त निकट के सम्बन्धी हैं। उन लोगों की इस भावना का समादर करते हुए श्रीरामकृष्ण ने विनोद किया, "यदि गाय के झुण्ड में कोई दूसरा जानवर घुस जाता है, तो वे सब मिल उसे सींगों से मारकर खदेड़ देती हैं। पर यदि कोई दूसरी गाय आ जाती

23. 'धर्मतत्त्व', १४ मई १८७५; 'वचनामृत', प्रथम भाग, च. सं., पृ. ५८६–७।

है, तो अपने ही बीच का जान वे उसे बड़ स्नेह से अपनाती हैं और उसकी देह चाटकर स्वागत करती हैं। आज हम लोगों का मिलन भी मानो इसी प्रकार का मिलन है।" यह सुनकर सभीलोग ठहाका मारकर हँस पड़े, पर सभी ने इस बात की सत्यता अनुभव की।

श्रीरामकृष्ण केशव और उनके साथियों से विदा लेने को तैयार हुए। वे उठे और केशव की ओर संकेत कर कहने लगे, "केवल यही एक ऐसे हैं, जिनकी पूँछ झड़ चुकी है।" उपस्थित सभी जन जोरों से हँस पड़े, यद्यपि उनमें से कइयों ने इस कथन को असम्मानसूचक माना। पर केशव ने तुरन्त बाधा देते हुए कहा, "हँसो मत। उनके कथन का अवश्य कोई गूढ़ मर्म होगा। हम उनसे पूछें।" तब श्रीरामकृष्ण अपने कथन का मर्म स्पष्ट करते हुए बोले, "जब तक मेंढक के बच्चे की पूँछ नहीं गिर जाती, तब तक उसे पानी में रहना पड़ता है; वह किनारे से चढ़कर सूखी जमीन में विचर नहीं सकता; ज्योंही उसकी पूँछ गिर जाती है, त्योंही वह फिर उछल-कूदकर जमीन पर आ जाता है। तब वह पानी में भी रह सकता है और जमीन पर भी। उसी प्रकार आदमी की जब तक अविद्या की पूँछ नहीं गिर जाती, तब तक वह संसाररूपी जल में ही पड़ा रहता है। अविद्यारूपी पूँछ के गिर जाने पर—ज्ञान होने पर ही मुक्त भाव से मनुष्य विचरण कर सकता है और इच्छा होने पर संसार में भी रह सकता है।" 24

"केशव, तुम्हारे मन की भी अब वैसी ही स्थिति है, वह संसार में भी रह सकता है तथा सच्चिदानन्द में भी

24. 'वचनामृत', द्वितीय भाग, पं. सं., पृ. ५३९–४०। वार्तालाप के इस अंश को वहाँ उपस्थित कइयों ने लिपिबद्ध कर रखा था।

जा सकता है।[25] श्रोतागण, जो इसे सहज भाव से ले रहे थे, इसकी गहराई का अनुभव कर अवाक् रह गये और अपने नेता के सम्बन्ध में इस रहस्योद्घाटन से गौरव का अनुभव करने लगे।

इस प्रकार लगभग चार घण्टे के प्रेरणा-भरे वार्तालाप के बाद श्रीरामकृष्ण केशव से विदा ले वापस दक्षिणेश्वर के लिए गाड़ी में बैठे। अपने पीछे वे अपने नव-परिचितों को, विशेषकर केशव को, सन्त-हृदय से निकले मधुमय शब्दों पर विचार करते रहने के लिए छोड़ गये। श्रीरामकृष्ण में दैवी प्रेम और ज्ञान की ज्योति सदा ही प्रज्वलित रहती। इसलिए सहज ही में वे जिज्ञासु-हृदयों में विश्वास और भक्ति की ज्योति जला देते थे।

केशव शीघ्र ही समाचार-पत्रों में अपनी इस अद्भुत खोज के सम्बन्ध में लिखने लगे।[26] उन्होंने श्रीरामकृष्ण से प्रतिभेंट में अधिक विलम्ब नहीं किया। इस प्रकार दो विपरीत प्रकार के मनों का मिलन हुआ — एक थे महान् बुद्धिवादी

25. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', प्रथम खंड, पृ. ४६२।

26. उदाहरणस्वरूप : 'इंडियन मिरर,' २८ मार्च १८७५ : "अभी अधिक समय नहीं हुआ है, हम एक (निष्ठावान् हिन्दू भक्त) से मिले थे, जिसकी गहराई, आत्मा में पैठ और सरलता ने हमें मुग्ध कर दिया। कहावतें और उदाहरण, जो वे उपयोग में लाये, जितने सटीक थे, उतने ही सुन्दर। उनके मन की विशेषता पण्डित दयानन्द से सर्वथा विपरीत है, ये नम्र, कोमल तथा ध्यानप्रधान हैं, जबकि दयानन्द दबंग, बलिष्ठ तथा शास्त्रार्थप्रिय हैं। हिन्दू धर्म में सौन्दर्य, सत्यता और अच्छाई की कितनी गहराई होगी, जो ऐसे सब लोगों को प्रेरणा देती है।"

यूरोपीय विचारधारा से प्रभावित केशव और दूसरे थे ईश्वरीय भाव में डूबे दक्षिणेश्वर के परमहंस। इससे उन्नीसवीं शताब्दी के धर्म-नवजागरण को एक नयी प्रेरणा मिली। उन दोनों का सम्बन्ध आन्तरिक, स्नेहपूर्ण एवं अटूट था। एक दूसरे के प्रति उनमें इतना गहरा लगाव हो गया कि एक-दो हफ्ते से अधिक बिना मिले वे नहीं रह पाते थे। कभी केशव दक्षिणेश्वर आते, तो कभी श्रीरामकृष्ण को कलकत्तेवाले अपने निवास-स्थान पर आमंत्रित करते; और जब कभी सुविधा होती, वे उन्हें अपनी धर्म-सभाओं में उपदेश देने के लिए कहते; प्रायः वे श्रीरामकृष्ण को घुमाने ले जाते, जैसे गंगा में स्टीमर से भ्रमण आदि के लिए। अपने व्याख्यानों में, पुस्तकों में, पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में केशव प्रायः ही श्रीरामकृष्ण का उल्लेख करते; और इस प्रकार बंगाल तथा बाहर के मध्यमवर्गीय शिक्षित समुदाय से उन्होंने दक्षिणेश्वर के सन्त को परिचित कराया।[27] दूसरी ओर केशव के प्रति श्रीरामकृष्ण का स्नेह-प्यार गहरा और संवेदनशील था। जैसा कि उन्होंने एक बार केशव से कहा था, "जब कभी तुम बीमार पड़ जाते हो, तब मुझे बड़ी घबराहट होती है। पहली बार भी जब तुम बीमार पड़े थे, तब रात के पिछले पहर मैं रोया करता था। कहता था, माँ, केशव को अगर कुछ हो गया तो फिर किससे बातचीत करूँगा? तब कलकत्ता आने पर मैंने सिद्धेश्वरी को नारियल और चीनी चढ़ाई

27. भूधर चटर्जी, 'वेद व्यास' के सम्पादक ('प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९३६, पृ. ९७ में): "और तत्पश्चात् वह केशव बाबू ही थे, जो उनके (श्रीरामकृष्ण के) प्रचार-कार्य में प्रमुख सहयोगी बने और इस प्रकार क्रमशः उनके कार्यक्षेत्र का विस्तार साधित किया।"

थी। माँ के पास मनौती मानी थी, जिससे बीमारी अच्छी हो जाय।"[28]

केशव ने कम से कम एक बार एक न्यायोचित बात ही कही थी –– "यदि मैं पैगम्बर नहीं हूँ, तो मैं एक विशिष्ट व्यक्ति हूँ। मैं साधारण मनुष्यों -जैसे नहीं हूँ और यह मैं सोच-समझकर कह रहा हूँ।"[29] तथापि उनमें बहुत विनम्रता थी। श्रीरामकृष्ण का प्रभाव उनके हृदय की गहराई में पैठा था और उसने उनके मानसिक क्षितिज को विस्तृत किया था। श्रीरामकृष्ण का व्यक्तित्व ही ऐसा था कि उससे दूसरों की विचारधारा परिवर्तित, समृद्ध और उद्भासित हो उठती थी। कुछ लोगों ने जनवरी १८८० में औपचारिक रूप से केशव के उद्घोषित 'नव विधान' के सम्बन्ध में इस धारणा का खण्डन किया है "इस मत के आविर्भाव को देखकर यह प्रतीत होता है कि श्रीयुत केशवचन्द्र ने श्रीरामकृष्णदेव की समस्त धर्ममत-सम्बन्धी चरम मीमांसा का इस प्रकार आंशिक रूप में प्रचार किया था।"[30] उन लोगों का तर्क है कि 'नवविधान' का बीज केशव के उन ग्रंथों[31] में ढूंढ़ा जा सकता है, जो श्रीरामकृष्ण से उनके मिलन के पहले के हैं। पर श्रीरामकृष्ण के सौम्य प्रभाव को और ब्राह्मलोगों के लिये

---

28. 'वचनामृत', प्रथम भाग, च. सं., पृ. ४९३।

29. शिवनाथ शास्त्री लिखित 'हिस्ट्री आँफ ब्राह्मसमाज', द्वितीय भाग, पृ. १०३।

30. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', प्रथम भाग, पृ. ४६६।

31. अन्यों के साथ, उनका व्याख्यान 'बिहोल्ड दि लाइट आफ हेवन इन इंडिया,' २३ जनवरी १८७५। रोमाँ रोलाँ ने इसका सुन्दर विश्लेषण किया है; देखिए 'रामकृष्ण परमहंस', पृ. १६६–१९२।

उनकी प्रबल प्रेरणा को कौन अस्वीकार कर सकता है? निश्चय ही केशव-जैसे निष्ठावान् साधक तो इसे नहीं ही अस्वीकार करेंगे, जो श्रीरामकृष्ण को पूजते थे। यद्यपि श्रीरामकृष्ण की प्रेरणा केशव और उनके कार्यों के भीतर अव्यक्त रूप से थी, पर उसका परिणाम बड़ा गहरा था। केशव के दो कट्टर समर्थकों ने बहुत सही लिखा है—

'परमहंस की सरलता, मधुर बालसुलभ विश्वास तथा भक्ति ने केशव के योग, वैराग्य, नीति, भक्ति और शुद्ध धार्मिक विचारों को प्रभावित किया था।" 32

"आचार्य देव (केशव) ने उनसे सीखा था कि किस प्रकार ईश्वर को माता के रूप में देखते हुए एक सरल बालक के समान उनसे प्रार्थना करनी चाहिए और छोटे शिशु के समान उनके लिए आकुल होना चाहिए। भक्ति का पक्ष रहने पर भी ब्राह्मधर्म विश्वास और विचार का धर्म था। परमहंस के जीवन से प्रभावित होकर ही वह काफी अधिक मधुर बना था।" 33

यहाँ एक अन्य अधिकारी विद्वान् जे. एन. फर्कुहर को उद्धृत किया जा सकता है, जो केशव या परमहंस देव दोनों में से किसी से भी सम्बन्धित न थे। उन्होंने लिखा है—

"सच तो यह है कि वे (केशव) रामकृष्ण के सर्वधर्म-समन्वय-भाव की महत्ता से अभिभूत हो गये थे, और एक बार उस भाव को स्वीकार कर लेने के बाद उसमें विश्वास रख, वे अपने मस्तिष्क में उसके साथ साथ हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों को, ईसाई धर्म के त्रिगुट (पिता पुत्र तथा पवित्रात्मा) सिद्धांत को तथा अपनी स्वयं की पुरानी

32. शर्मा, वही, पृ. २४७।

33. सेन, वही, पृ. ९०।

आस्थाओं को पकड़े रहने का प्रयास करने लगे।"34

यद्यपि हम इन दो दिग्गजों के परस्पर प्रभाव को मापने में असमर्थ हैं, फिर भी इन दो महान् विचारधाराओं के मिलन से मानवता को शान्ति तथा प्रगति की ओर ले जानेवाला जो मार्ग प्रशस्त हुआ है, उसके महत्त्व को नहीं भुला सकते।

34. जे. एन. फर्कुहर : 'माडर्न रिलीजियस मूवमेंट् इन इंडिया' (मैकमिलन कं., १९१५), पृ. ६४।

●

सत्य एक ही है; अन्तर है नाम और रूप का। एक ही जलाशय के तीन या चार घाट हैं। एक पर हिन्दू पानी पीते है—उसे 'जल' कहते हैं। दूसरे पर मुसलमान उसी को 'पानी' कहते हैं। और अँगरेज तीसरे पर—उसी को वाटर कहते हैं। तीनों का तात्पर्य एक ही वस्तु से है, भेद केवल नाम का है। इसी प्रकार कुछ लोग सत्य को 'अल्लाह' के नाम से पुकारते हैं, कुछ 'गॉड' कह कर तथा अन्य लोग 'राम', 'ईसा', 'दुर्गा' तथा 'हरि' नाम लेकर पुकारते हैं।

—श्रीरामकृष्णदेव।

परमार्थ के दो पथ

(गीता अध्याय ३, श्लोक १–३)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

आज से हम तीसरे अध्याय की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। इस अध्याय का नाम है कर्मयोग। जब कर्म हमें उस परमात्मा से युक्त कर दे, तो वह कर्मयोग हो जाता है। सामान्यतः कर्म व्यक्ति के लिए बन्धनकारक ही होता है, पर एक ऐसा भी उपाय है, जिससे कर्म बन्धनकारक नहीं रह जाता; और यहीनहीं, पूर्वकृत कर्मों से उत्पन्न बन्धन को वह छिन्न कर देता है। यह उपाय कर्मयोग के नाम से जाना गया है। तीसरे अध्याय में इसी कर्मयोग की चर्चा हुई है। दूसरे अध्याय में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान का उपदेश दिया। उसके अन्तःकरण में मोह का जो कल्मष समा गया था, जिसके फलस्वरूप वह देह और उसके सम्बन्धों में बँधे हुए लोगों को नित्य समझ बैठा था, उसे श्रीकृष्ण आत्मज्ञान के तीव्र प्रकाश में दूर करने का प्रयत्न करते हैं। वे अर्जुन को दो प्रकार की बुद्धियों का उपदेश देते हैं। एक है सांख्य की, ज्ञान की, जिसमें आत्मा और अनात्मा का विवेक है, और दूसरी है योग की, कर्म की, जो अन्तःकरण की चंचलता को नष्ट कर उसे व्यवसायात्मक बनाती है। पहले वे अर्जुन के समक्ष सांख्य की बुद्धि का उपदेश देते हैं, तत्पश्चात् योग की बुद्धि का। पहले वे समझाते हैं कि आत्मा को देह और मन से कैसे पृथक् किया जाय, जिससे देह-मन की चिन्ताएँ, उसके दुःख आत्मा को प्रभावित न कर सकें, और फिर उसके बाद

यह बताते हैं कि कर्म से उत्पन्न अन्तःकरण के चांचल्य को कैसे शान्त किया जाय। अर्जुन को लगता है कि क्या ऐसे भी व्यक्ति हो सकते हैं, जिनकी चंचलता दूर हो चुकी हो ? और यदि ऐसे व्यक्ति हों भी, तो वे किस प्रकार का वर्तन करते हैं ? अर्जुन का अनुभव है कि मन बड़ा चंचल है, संसार में मनुष्य को अपार दुःख उठाना पड़ता है। वह स्वयं कहता है कि 'मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता, जो मेरी इन्द्रियों के सुखानेवाले शोक को दूर कर सके' (२/८)। इसलिए उसे ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में एक सहज कौतूहल है, जो स्थितप्रज्ञ है, जिस पर संसार के सुख-दुःख अपना प्रभाव नहीं डाल पाते। भगवान् श्रीकृष्ण उसके इस कौतूहल को शान्त करते हुए स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते हुए कहते हैं कि ऐसा स्थिर बुद्धि पुरुष जीवन में कैसे चलता है, कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे वर्तन करता है। अध्याय के अन्त अन्त में वे अर्जुन को शान्ति का उपाय प्रदर्शित करते हैं और ब्राह्मी स्थिति का परिचय देते हैं।

श्रीकृष्ण सोचते थे कि उनके उपदेश से अर्जुन का समाधान हो जायगा, वह जो युद्ध से विरत होने की दलीलें दे रहा था, उन दलीलों को छोड़ देगा और युद्ध कार्य में लग जायगा। पर ऐसा कुछ नहीं होता। अर्जुन का उलझाव कम होने के बदले बढ़ ही जाता है। वह खिन्न हो कह उठता है —

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम ॥२॥

अर्जुनः (अर्जन) उवाच (बोला)-- जनार्दन (हे कृष्ण) चेत् (यदि) ते (आपको) बुद्धिः (ज्ञान) कर्मणः (कर्म की अपेक्षा) ज्यायसी (श्रेष्ठतर) मता (मान्य हो) तत् (तो) केशव (हे केशव) किं (क्यों) मां (मुझे) घोरे (घोर, हिंसक) कर्मणि (कर्म में) नियोजयसि (नियुक्त कर रहे हैं) ?

"अर्जुन बोला--- हे जनार्दन, यदि आपके मत में ज्ञान कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठतर है, तो हे केशव, आप मुझे ऐसे भयंकर कर्म में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं ?"

व्यामिश्रेण इव (विपरीत-से भावोंवाले) वाक्येन (वाक्य से) मे (मेरी) बुद्धिं (बुद्धि को) मोहयसि इव (मोहित-सा कर रहे हैं) येन (जिससे) अहं (मैं) श्रेयः (मंगल) आप्नुयां (प्राप्त कर सकूँ) तत् (वह) एकं (एक) निश्चित्य (निश्चय करके) वद (कहें)।

"आप परस्पर विरोधी भावोंवाले वचनों से मेरी बुद्धि को मोहित-सा कर रहे हैं। जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूँ, ऐसा एक मार्ग मुझे निश्चय करके बताएंगे।"

अर्जुन भगवान् के मन्तव्य को न पकड़ पाया। उसे लगता है कि एक ओर तो श्रीकृष्ण उसे कर्म में प्रवृत्त होने के लिए कहते हैं और दूसरी ओर वे ज्ञान की प्रशंसा करते हुए कर्म को उसकी अपेक्षा अत्यन्त हीन बताते हैं। एक ओर तो कहते हैं-- 'तस्मात् युध्यस्व भारत' (२/१८)--- इसलिए अर्जुन, तू युद्ध कर; 'तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः' (२/३७)--- इसलिए कौन्तेय, तू युद्ध के लिए निश्चय करके उठ खड़ा हो; 'ततो युद्धाय युज्यस्व' (२/३८)--- अतः तू युद्ध के लिए तैयार हो जा; और दूसरी

और उपदेश देते हैं— 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो नियोगक्षेम आत्मवान्' (२/४५)—वेद त्रिगुणात्मक संसार को अपना विषय बनाते हैं, तू तो अर्जुन, तीनों गुणों से ऊपर उठ, निर्द्वन्द्व बन, तेरी स्थिति नित्य वस्तु में हो, तू योग और क्षेम को न चाहनेवाला तथा आत्मपरायण बन; 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय, बुद्धौ शरणमन्विच्छ' (२/४९)— बुद्धियोग से कर्म बहुत तुच्छ है, तू बुद्धि में शरण ले; आदि। अर्जुन समझ नहीं पाता कि उसके लिये क्या करना श्रेयस्कर है। उसे तो यही लगता है कि श्रीकृष्ण ने उसके समक्ष प्रशंसा ज्ञान की की है, जबकि स्वयं उसे वे युद्ध करने का उपदेश दे रहे हैं। युद्ध एक घोर कर्म है, उसमें हिंसा है, उसके द्वारा भला ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो सकती है ? कर्म में चांचल्य है, बहुत्व का अनुभव है, भावों का विषम स्पन्दन है, तब उससे ब्राह्मी स्थिति का समत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ? अतएव यदि ब्राह्मी स्थिति को पाना ही, स्थितप्रज्ञ होना ही जीवन का लक्ष्य हो, तब इस घोर कर्म-चक्र में से गुजरने का क्या तात्पर्य ? अर्जुन की यह शंका सर्वथा उचित है। अपनी शंका को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करता हुआ वह कह उठता है कि हे कृष्ण, यदि आप बुद्धि को कर्म से श्रेयस्कर मानते हैं, तो मुझे इस घोर युद्ध में संलग्न होने के लिए क्यों कहते हैं ? आप तो मानो मिले-जुले-से वचनों से मेरी बुद्धि को मोहित कर दे रहे हैं। आपके वचनों में स्पष्टता नहीं है। आप परस्पर दो विरोधी भावों का उपदेश मेरे समक्ष कर रहे हैं। आप निश्चित कर लीजिए कि मेरे लिए कौन सा पथ कल्याणकर होगा और उसी का उपदेश मुझे दीजिए।

अर्जुन की वाणी में विनय है। वह देख रहा है कि

श्रीकृष्ण भले ही ज्ञान की प्रशंसा करते हों पर उसे तो कर्म का ही उपदेश दे रहे हैं। यह तो वैसे ही है जैसे कोई वैद्य रोगी से कहता हो— 'देखो, यह औषध तुम्हें जीवन प्रदान करेगी और यह विष तुम्हारे प्राणों को हर लेगा, तथापि तुम तो इस विष का ही सेवन करो!' इसे सुनकर रोगी का उद्विग्न होना स्वाभाविक है। अर्जुन भी वैसे ही उद्विग्न हुआ है। वह स्पष्ट आदेश चाहता है। उसका विश्वास है कि भगवान् उसका मंगल ही करेंगे। भले ही अभी अर्जुन को युद्ध भयावह प्रतीत हो रहा है और भिक्षाटन का जीवन लुभावना तथापि उसे श्रीकृष्ण के निर्णय पर विश्वास है। उसका यही विश्वास उसे बचा लेता है।

यहाँ पर अर्जुन के द्वारा एक ही श्लोक में भगवान् के लिए दो बार सम्बोधन है— पहले वह उन्हें 'जनार्दन' कहता है और फिर 'केशव'। यहाँ पर पुनरुक्ति का दोष नहीं देखना चाहिए। जब व्यक्ति आकुल हो उठता है और परिस्थितियों की मार से किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, तब जिसके प्रति वह समर्पित होता है, उसे बार बार पुकारना उसके लिए स्वाभाविक होता है। जैसे कोई व्यक्ति दलदल में फँस गया हो और हम रास्ते से निकलते हों, तो अपने को बचाने के लिए वह फँसा हुआ व्यक्ति गिड़गिड़ाते हुए कहता है— 'ओ बाबूजी, ऐ भैया, जरा मुझे दलदल से निकाल तो लो।' विकलता की असहाय स्थिति में इस प्रकार के एकाधिक सम्बोधन स्वाभाविक ही हैं, दोष-पूर्ण नहीं। फिर, टीकाकारों ने 'जनार्दन' और 'केशव' शब्दों की व्याख्या करते हुए इनको अर्जुन की मानसिकता के अनुकूल बताया है। 'जनार्दन' का अर्थ होता है—जन का अर्दन यानी नाश, जो दुष्ट जनों का नाश करे। आप स्वयं दुष्टजनों का विनाश करने के लिए

प्रसिद्ध हैं, आपने ही केशी दैत्य का वध किया और इसलिए 'केशव' नाम से प्रसिद्ध हुए। तब फिर आप यह कर्म मुझ पर क्यों डालना चाहते हैं ?

अर्जुन युद्ध को घोर कर्म कहता है, क्योंकि उसमें गुरु-स्वजन-बान्धवों का रक्तपात होना है। पर अर्जुन यह भूल जाता है कि सैनिक के लिए युद्ध ही कर्तव्य है। वास्तव में कोई कर्म घोर या अघोर नहीं होता, वह तो कर्ता की बुद्धि है, उसका भाव है, जो कर्म को अच्छा या बुरा बनाता है।

'व्यामिश्रेणेव' और 'मोहयसीव' इन दोनों शब्दों के साथ 'इव' का प्रयोग अर्जुन की निश्छल मानसिकता को दर्शाता है। 'इव' शब्द लगा देने से वाक्य का यह तात्पर्य हो गया कि भगवन्, आप तो मिली-जुली बातें नहीं कहेंगे, आप मुझे मोह में नहीं डालेंगे, पर मेरी बुद्धि ही कुछ चक्कर में पड़ गयी है, जिससे आपकी बातें मिली-जुली सी लग रही हैं और भ्रम-सा पैदा कर रही हैं। इसलिए आप कृपा करके एक स्पष्ट मार्ग का निर्देश करें, जिस पर चलकर मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूँ।

इस पर श्रीकृष्ण उत्तर में कहते हैं—

श्रीभगवान् उवाच—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीभगवान् (श्री भगवान्) उवाच (बोले)—अनघ (हे निष्पाप अर्जुन) अस्मिन् (इस) लोके (संसार में) द्विविधा (दो प्रकार की) निष्ठा (स्थिति) मया (मेरे द्वारा) पुरा (पहले) प्रोक्ता (कही गयी है) ज्ञानयोगेन (ज्ञानयोग के द्वारा) सांख्यानां (ज्ञानियों की) कर्मयोगेन (कर्मयोग के द्वारा) योगिनाम् (कर्मयोगियों की)।

"श्री भगवान् ने कहा— हे निष्पाप अर्जुन, इस संसार में दो प्रकार की निष्ठा या स्थिति मेरे द्वारा पहले ही बतलायी गयी है—ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोग की तथा कर्मयोगियों के लिए कर्मयोग की।"

दो निष्ठाओं की बात कहकर भगवान् श्रीकृष्ण परमार्थ के दो पथों का निर्देश करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि ये दोनों पथ परमार्थ-लाभ के स्वतंत्र साधन हैं। 'निष्ठा' बुद्धि का गुण है, इसका अर्थ होता है 'किसी बात में अत्यन्त स्थिर रहना' (नि-स्था)। यहाँ पर 'निष्ठा' के साथ 'मोक्ष' शब्द अध्याहृत है। अर्थ-पूर्ति के लिए किसी शब्द का जो योग करना पड़ता है, उसे अध्याहार कहते हैं। व्यक्ति की 'निष्ठा' तो किसी भी विषय में हो सकती है, पर यहाँ 'निष्ठा' से तात्पर्य है 'मोक्ष-निष्ठा', यानी वह मार्ग जिस पर चलने से अन्त में मोक्ष मिलता है। ऐसी निष्ठा को श्रीकृष्ण द्विविध बतलाते हैं, यानी मोक्ष-लाभ के लिए ये दो मार्ग हुए।

'पुरा' का तात्पर्य होता है 'पहले'। इसका मतलब या तो यह हो सकता है कि इससे पहले यानी दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इन दो रास्तों की बात बतायी है अथवा यह कि सृष्टि के प्रारम्भ में इन दो निष्ठाओं की बात कही गयी है। दूसरे अध्याय में (२/३८) सांख्यबुद्धि और योगबुद्धि के नाम से बुद्धि के दो रूप या भेद बताये गये हैं। यहां पर 'बुद्धि' शब्द का तात्पर्य 'निष्ठा' ही करना चाहिए। या फिर सृष्टि के प्रारम्भ में जो प्रवृत्तिनिष्ठा और निवृत्ति-निष्ठा की बात हमें वेदादि शास्त्रों में मिलती है, उसका संकेत श्रीकृष्ण द्वारा अभीष्ट हो सकता है। 'लोकेऽस्मिन्' (इस लोक में) शब्द के साथ यह दूसरा अर्थ ही अधिक

सटीक मालूम पड़ता है। फिर, यदि दूसरे अध्याय में कही गयी दो बुद्धियों की ओर श्रीकृष्ण का संकेत होता, तब 'पुरा' शब्द लगाने का कोई प्रयोजन नहीं था। 'मया प्रोक्ता' (मेरे द्वारा कही गयीं) इतना कहना ही पर्याप्त होता।

श्रीकृष्ण अर्जुन को 'अनघ' कहते हैं। अनघ वह है, जिसमें कोई पाप नहीं। ऐसा व्यक्ति ही ईश्वर से वार्तालाप कर पाता है। ऐसे निष्पाप अन्तःकरण में ही ईश्वर की वाणी सुनायी देती है। यदि हम भी अर्जुन की तरह अनघ हो जायँ, तो हमारा अन्तःकरण भी ईश्वर की चेतना से आलोकित हो उठेगा।

वे दो निष्ठाएँ कौन सी हैं? एक ज्ञानयोग की और दूसरी कर्मयोग की। ज्ञानयोग की निष्ठा सांख्यमार्गी के लिए है और कर्मयोग की निष्ठा योगी के लिए। हम पूर्व में कह चुके हैं कि 'गीता' के शब्दों का अपना एक विशिष्ट अर्थ है। यहाँ पर सांख्य का तात्पर्य 'सांख्यदर्शन' से नहीं है, बल्कि उसका मतलब है ज्ञान। सांख्यमार्गी वह है, जो संख्या करता है, गिनता है— प्रकृति के ये इतने तत्त्व हैं, ये सब अनात्मा हैं, आत्मा इन सब तत्त्वों से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार की गिनती—विवेक—करनेवाला सांख्यमार्गी है। ज्ञानमार्गी आत्मा और अनात्मा का विवेक करता है। उसके लिए परमार्थ का पथ है ज्ञानयोग। अब जो योगी है, वह कर्मयोग का सहारा लेकर मोक्ष-प्राप्ति करना चाहता है। 'गीता' में 'योगी' शब्द का व्यवहार कर्मयोगी के लिए आया है। जो समत्व-योग में स्थित हो कर्म करे, वह योगी है। दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को 'योगस्थ' होकर कर्म करने का उपदेश देते हैं। ज्ञानयोग निवृत्तिपरक है और कर्मयोग

प्रवृत्तिपरक। अर्जुन इसलिए भ्रमित होता है कि एक ओर श्रीकृष्ण निवृत्ति की प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर अर्जुन को प्रवृत्ति का उपदेश देते हैं। निवृत्ति का अर्थ है संसार से निवृत्त हो जाना—हट जाना और प्रवृत्ति का अर्थ है संसार में से होकर जाना। निवृत्ति कर्म-संन्यास को प्रोत्साहित करती है और प्रवृत्ति कर्म करने पर जोर डालती है। अर्जुन सोचता है कि यदि घोर कर्मों को किये बिना वह लक्ष्य उपलब्ध हो सकता है, तो वही क्यों नहीं करना? यदि दलदल में से हुए बिना दरिया को पार किया जा सकता है, तो दलदल में से जाने का कष्ट क्यों करना? पर अर्जुन के भीतर इतना विवेक है कि वह श्रीकृष्ण के वचनों में कोई गूढ़ अर्थ भरा देखता है। वह इसके लिए हठ नहीं करता कि वह ज्ञान के ही रास्ते जाएगा, वह तो विनीत भाव से कहता है कि मेरे लिए जो पथ आप श्रेयस्कर समझें, उसका निर्देश करें। वह कहता है कि आप स्वयं निश्चय करके एक रास्ता मुझे बताइए, जिस पर से होकर मैं परमार्थ का साधन कर सकूँ।

भगवान् कृष्ण की बातों से अर्जुन के मन में जो संशय उठा, उससे वह निश्चय नहीं कर पाया कि उसके लिए (१) ज्ञान, (२) कर्म, (३) ज्ञान और कर्म दोनों का एक साथ सम्पादन अथवा (४) ज्ञान और कर्म दोनों का ही त्याग—इनमें से कौन सा पथ अधिक उपादेय होगा। इसीलिए वह अपने लिए कल्याणकारी उस एक पथ का चुनाव श्रीकृष्ण पर छोड़ देता है। श्रीकृष्ण भी उत्तर में दो पथों का निर्देश करते हैं।

अब यह देखना है कि गीता का तात्पर्य क्या है—क्या वह ज्ञानयोग का समर्थन करती है, अथवा कर्मयोग का,

अथवा ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय का ? आचार्य शंकर के अनुसार गीता ज्ञानयोग को ही मोक्ष-प्राप्ति में एकमात्र साधन मानती है। गीता में कहा भी है— 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (४/३३) — हे पार्थ, अखिल कर्मों का अन्त ज्ञान में ही जाकर होता है, अर्थात् ज्ञान ही कर्मों की पराकाष्ठा है। और भी— 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (२/३७) —वैसे ही ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को जलाकर भस्म कर देती है। शंकराचार्य के अनुसार कर्मयोग ज्ञान की प्राप्ति का साधन मात्र है, वह परमार्थ की प्राप्ति का अलग से स्वतंत्र मार्ग नहीं है। वे यह भी नहीं मानते कि ज्ञान और कर्म का समुच्चय हो सकता है। ज्ञान-कर्म-समुच्चय का अर्थ यह है कि मोक्ष-प्राप्ति तक ज्ञान और कर्म दोनों को साथ साथ चलना चाहिए। अब ज्ञान समस्त भेदों का नाश करता है, अनेकता को बाधित करता है और कर्म बिना द्वैतभाव के नहीं हो सकता। अतः ये दोनों विपरीत दृष्टिकोणवाले रास्ते एक साथ कैसे तय किये जा सकते हैं ?—यह शंकराचार्य का प्रश्न है। अतः वे समुच्चय को नहीं स्वीकार करते। वे कर्मयोग की महत्ता यहीं तक स्वीकार करते हैं कि उससे ज्ञानयोग की साधना में सहायता मिलती है। कर्मयोग से चित्त शुद्ध होता है और ऐसे शुद्ध हुए अन्तःकरण में ज्ञाननिष्ठा को पाने की योग्यता जन्म लेती है। यह योग्यता ज्ञाननिष्ठा को पैदा करती है और ज्ञाननिष्ठा से ज्ञान आता है। ज्ञान के बिना मुक्ति मिल ही नहीं सकती— 'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः'।

लोकमान्य तिलक कर्मयोग को परमार्थ का स्वतंत्र साधन मानते हैं, ज्ञानयोग के सोपान के रूप में नहीं। उनका

तात्पर्य यह है कि कर्मयोग में भी तो ज्ञान होता है। बिना ज्ञान के आधार के कर्मयोग भी नहीं सधता। ज्ञान दोनों पथों में---ज्ञानयोग और कर्मयोग में, निवृत्ति और प्रवृत्ति में समान रूप से विद्यमान है। तो फिर ज्ञानयोग और कर्म-योग का अन्तर क्या है? ज्ञानयोग का कहना है कि सब कुछ त्यागकर संन्यासी हुए बिना परमार्थ नहीं सधता, बिना कर्मों का औपचारिक रूप से त्याग किये आत्मज्ञान नहीं होता। और कर्मयोग कहता है कि परमार्थ-साधन के लिए कर्मों के त्याग की आवश्यकता नहीं, औपचारिक कर्म-संन्यास का कोई प्रयोजन नहीं, मनुष्य को मृत्युपर्यन्त कर्म-योग का अनुष्ठान करते रहना चाहिए। यदि हम गीता के वचनों का गम्भीरता के साथ अनुशीलन करें, तो लोक-मान्य तिलक की बात ही अधिक समीचीन मालूम पड़ती है। हाँ, केवल उनका उतना आग्रह ग्राह्य नहीं है कि ब्रह्मज्ञान के पश्चात् भी व्यक्ति को कर्म करने ही चाहिए। यदि आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् व्यक्ति लोकसंग्रह से प्रेरित हो कर्म करता है, तो इसमें कोई दोष नहीं, अपितु यह अभीष्ट है, पर यदि उसमें तब कर्म के लिए कोई प्रेरणा न रह जाय, तो उसके लिए कर्म करने की कोई बाध्यता नहीं है। तिलक उसके लिए भी कर्म करने की जो 'बाध्यता' प्रतिपादित करते हैं, वह ग्रहणीय नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण जिन दो निष्ठाओं की बात कहते हैं, उससे यह स्पष्ट कर देते हैं कि ये दोनों पर-मार्थ-साधन के अलग अलग और स्वतंत्र पथ हैं। दोनों के अधिकारी भिन्न हैं। जो सांख्यमार्गी है, वह ज्ञानयोग की निष्ठा चुन ले और जो कर्मयोगी है, वह कर्मयोग की निष्ठा अपना ले। श्रीकृष्ण का तात्पर्य यह है कि अर्जुन, मैंने तो पहले

भी दो प्रकार के अधिकारियों के लिए दो प्रकार की निष्ठाएँ बतायी थीं। एक का पथ दूसरे का नहीं हो सकता। मैंने तो किसी भी प्रकार तेरी बुद्धि में भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास नहीं किया। तू मेरी बात नहीं पकड़ पाया। इसका दोष तू मुझे क्यों देता है? मैंने तो साफ ही कहा था कि सांख्यबुद्धि और योगबुद्धि ये दो अलग अलग रास्ते हैं। सांख्यबुद्धि के अनुसार आत्मा नित्य है और शरीर अनित्य। नित्य-अनित्य का विचार करते हुए अनित्य के लिए शोक-दुःख न करना और अपनी नित्य आत्मस्वरूपता को जान लेना—यह ज्ञान का रास्ता है। योगबुद्धि में चित्त को द्वन्द्वों से प्रभावित न होने देकर, उसे सम रखकर संसार के कर्म करने पड़ते हैं। कर्मयोग के अभ्यास से बुद्धि को व्यवसायात्मक बनाना पड़ता है। अभी बुद्धि बहुत चंचल है, एक स्थान पर बैठ नहीं पाती, क्योंकि यह अव्यवसायात्मक है। कर्मयोग बुद्धि की चंचलता को नष्ट करेगा। ऐसी एकाग्र बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश फैल उठेगा।

यहाँ हम समझ लें कि कर्म और ज्ञान का परम्परागत अर्थ क्या है। वैदिक ग्रन्थों में कर्म शब्द का व्यवहार यज्ञ और नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान आदि के लिए हुआ है। पुराकाल में हिन्दुओं के यहाँ यज्ञादि की परम्परा थी, तरह तरह के अनुष्ठानादि हुआ करते थे। इन यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान बहुधा कामना की पूर्ति के लिए होता था, ऐसे कर्म सकाम कहे जाते थे। इन सकाम कर्मों से मनुष्य इस जीवन में लोक, पुत्र और वित्त की अपनी एषणाओं को पूर्ण करता और परजीवन में स्वर्गादि के सुखों का भोग चाहता। यह मीमांसकों की कर्मनिष्ठा थी। पर मनीषियों

और विचारकों ने सुख-भोग को परमार्थ नहीं माना। सकाम कर्म से उत्पन्न सुख तो क्षणिक हैं — वे चाहे इस जीवन के हों या परजीवन के। मनीषियों ने जीवन का परमार्थ इन क्षणिक और नाशवान् सुखों में नहीं देखा, उन्होंने तो चरम सत्य को जान लेना ही जीवन का चरम उद्देश्य माना। इस दृष्टि से वे शाश्वत और चिरन्तन सत्य का अनुसन्धान करते रहे और एक दिन इस अनित्य जगत् के पीछे स्थित उस नित्य सत्ता का उन्होंने साक्षात्कार कर लिया और घोषणा की कि इस सत्ता की उपलब्धि से ही शाश्वत शान्ति प्राप्त हो सकती है। लौकिक और पारलौकिक जीवन के सुख-भोग मन को चंचल कर अशान्त ही बनाते हैं, व मनुष्य को उसके अपने वास्तविक स्वरूप से बहुत दूर ले जाते हैं। अतएव यदि जीवन में सचमुच की शान्ति पाना चाहते हो, तो उस एक आत्मतत्त्व को जानो—'तमेवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुंचथ, अमृतस्यैष सेतुः' — अन्य सब बातें छोड़ दो, अमृत का यही एकमात्र सेतु है। 'कठोपनिषद्' के ऋषि कह उठे थे—

> नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
>
> मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
>
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
>
> स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥२/२/१३

—जो अनित्य पदार्थों में नित्यस्वरूप तथा ब्रह्मा आदि चेतनों में चेतन है और जो अकेला ही अनेकों की कामनाएँ पूर्ण करता है, अपनी बुद्धि में स्थित उस आत्मा को जो विवेकी पुरुष देखते हैं, उन्हीं को नित्य शान्ति प्राप्त होती है; औरों को नहीं।

तो, यह ज्ञान का स्वर था, जो निवृत्तिपरक था।

यह स्वर कर्मों के स्वरूपतः त्याग का पक्षपाती था। पर कर्मों का त्याग इच्छा मात्र से नहीं हो जाता। वह तो मन की एक ऊँची ज्ञानात्मक अवस्था है, जिसमें संसार अर्थशून्य प्रतीत होता है और व्यक्ति संसार के राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है। पर जिनका अन्तःकरण इस भूमिका तक नहीं उठा है, वे क्या करें? जिनके मन में वासनाएँ भरी हैं, वे कैसे संसार का त्याग कर सकते हैं? तब ऐसे लोगों के लिए यह प्रवृत्ति का धर्म सामने रखा गया, जिसे 'गीता' ने कर्मयोग-निष्ठा कहकर पुकारा है। यह कर्मयोग-निष्ठा कर्म से भिन्न है, वह मीमांसकों की कर्मनिष्ठा से भी अलग है। कर्म या कर्म-निष्ठा में भोग की प्रवृत्ति है, फल की वांछा है। पर जब हम कर्म को किसी फल-प्राप्ति के लिए नहीं करते, ईश्वर की प्रीति के लिए सम्पादित करते हैं, ईश्वर की पूजा मानकर करते हैं, उसका फल ईश्वर को ही समर्पित कर देते हैं, तो ऐसा कर्म ईश्वर के साथ हमारे योग का कारण बन जाता है और कर्म-योग के नाम से परिचित होता है। इसे निष्काम कर्म के नाम से भी पुकारा है। सकाम कर्म में कर्म के फल को भोगने की इच्छा है, निष्काम कर्म में फल ईश्वर को समर्पित कर दिया जाता है।

प्रश्न उठ सकता है कि यदि हम कर्म का फल अपने लिए न लें और उसे ईश्वर को ही समर्पित कर दें, तो फिर कर्म हम करें ही क्यों? इस प्रश्न की समुचित मीमांसा हमने अध्याय २ के ४७वें श्लोक की व्याख्या में की है। हमने ऊपर कहा है कि मननशील व्यक्तियों ने जीवन का लक्ष्य सुखोपभोग नहीं, सत्य का साक्षात्कार माना है। मनुष्य ना-समझी के कारण इन्द्रिय-भोगों की चरितार्थता को जीवन का लक्ष्य मान लेता है। ऐसी दशा में उसमें और पशु में किस

बात का अन्तर रहा ? मनुष्य अपने विवेक के बल पर ही तो पशु से भिन्न होने की पात्रता रखता है। वह भी यदि इन्द्रिय-भोगों की लपेट को ही जीवन की सार्थकता मानता रहे, तो सचमुच वह पशु से भिन्न नहीं है। अब, यदि सत्य का साक्षात्कार ही मानव-जीवन का लक्ष्य हो, तब इस लक्ष्य की प्राप्ति ही मनुष्य की समस्त वैचारिक और कर्म-प्रेरणाओं का गम्य होनी चाहिए। इसीलिए उसे ऐसे विचार मन में उठाना चाहिए, जिनसे सत्य के साक्षात्कार में सहायता मिले। उसे इस प्रकार कर्म करना चाहिए, जिससे उसका मन और भी विक्षिप्त न हो एकाग्र बने, व्यवसायात्मक बने। यह तभी सम्भव है, जब कर्म निष्काम हों, ईश्वर-प्रीत्यर्थ किये गये हों।

प्रश्न किया जा सकता है कि यदि हम कर्म नहीं ही करें, तो क्या होगा ? इसके उत्तर में 'गीता' का स्पष्ट उत्तर है कि मनुष्य कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता; यदि वह चुप बैठना भी चाहे, तो प्रकृति के गुण उसे बैठने न देंगे, अपितु उससे बलात् कर्म कराएँगे। इसकी चर्चा हम बाद में विस्तार से करेंगे। अभी तो इतना ही कहना अभीष्ट है कि मनुष्य को कर्म करना ही पड़ेगा--चाहे वह कर्म सकाम हो अथवा निष्काम। सकाम कर्म उसे संसार के दलदल में फँसाएगा और निष्काम कर्म उसे इस दलदल से निकालकर सत्य के साक्षात्कार की ओर ले जायगा।

यदि हम संसार के लोगों का एक मोटा-सा विभाजन करें, तो पाएँगे कि दो प्रकार के लोग होते हैं-- एक तो वे हैं, जिनकी प्रवृत्ति जागतिक कर्मों की ओर उतनी नहीं होती, वे अध्ययन-अध्यापन और वैचारिक कर्मों में अधिक रुचि रखते हैं, और दूसरे वे हैं, जिनकी दैहिक कर्मों के प्रति अधिक

रुझान होती है। यह उन लोगों का स्वभावगत वैशिष्ट्य होता है। फलतः सत्य के साक्षात्कार का उनका जो पथ होगा, वह अलग अलग होगा। इन दो प्रकार के मानवी स्वभावों को दृष्टिगत रखते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैंने दो निष्ठाओं की बात कही है। ज्ञान योग की निष्ठा उन लोगों के लिए है, जो वैचारिक कर्मों की ओर अधिक झुके होते हैं और कर्मयोग की निष्ठा उनके लिए है, जो शारीरिक कर्मों से अधिक लगे रहते हैं। इन्हीं दो निष्ठाओं को दूसरे अध्याय के ३९वें श्लोक में क्रमशः सांख्यबुद्धि और योगबुद्धि कहकर पुकारा है। कर्मयोग में तो कर्म है ही, ज्ञानयोग में भी कर्म है --- शास्त्र-विचार, अध्ययन-अध्यापन, तपस्या, जप-ध्यान, भिक्षाटन यह सब भी तो आखिर कर्म ही है। उसी प्रकार, ज्ञानयोग में तो ज्ञान है ही, पर कर्मयोग में भी ज्ञान है---कर्म, अकर्म, विकर्म का विवेचन ज्ञान के बल पर ही होता है, सकाम और निष्काम कर्मों का भेद ज्ञान से ही निष्पन्न होता है। तथापि ज्ञानयोग में विचारशक्ति की प्रधानता है और कर्मयोग में क्रियाशक्ति की। भावनाशक्ति दोनों के साथ मिली रहती है। ज्ञान और कर्म के रास्ते एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। इन दोनों को क्रमशः निवृत्ति और प्रवृत्ति का रास्ता भी कहा गया है। प्रवृत्ति को मात्र सांसारिकता नहीं समझ लेना चाहिए। प्रवृत्ति संसार में से होकर जानेवाला रास्ता है अवश्य, पर वह सांसारिकता नहीं है। प्रवृत्ति में काम और अर्थ की वृत्तियों का भोग है अवश्य, पर यह भोग धर्म के नियमन के अन्तर्गत होता है। सांसारिकता वह है, जहाँ अर्थ और काम की वृत्तियों पर कोई नियंत्रण न हो, उनका खुला भोग हो। पर जब हम धर्म के दण्ड से इन दोनों वृत्तियों का नियमन करते हैं, तो अर्थ और काम पुरुषार्थ बन जाते हैं

ग्रौर हमें प्रवृत्ति के पथ पर से सत्य की ग्रोर, मोक्षरूप चतुर्थ पुरुषार्थ की ग्रोर ले चलते हैं। निवृत्ति में ग्रर्थ ग्रौर काम की वृत्तियों को खेलने नहीं दिया जाता।

तो, ये दो रास्ते बिल्कुल ग्रलग ग्रलग ग्रौर स्वतंत्र हैं। ग्राचार्य शंकर ने दोनों रास्तों को स्वतंत्र नहीं माना है, वे कर्मयोग को ज्ञानयोग का एक सोपान मात्र मानते हैं, जैसा कि हम ऊपर में कह चुके हैं। पर 'गीता' में जिस ज्ञान की चर्चा हुई है, वह ज्ञानयोग से निकला ज्ञान नहीं, बल्कि कर्मयोग से निकला ज्ञान है। हम यह कह चुके हैं कि कर्मयोग भी ज्ञान पर ग्राधारित होता है, बिना ज्ञान के कर्म कर्मयोग नहीं बन सकता। कर्मयोग की परिपूर्णावस्था में जब शरीर की प्रत्येक हलचल ग्रौर विचार की हर क्रिया ईश्वर की पूजा बन जाती है, तब हमारा हृदय ईश्वर की चेतना से, सत्य के ज्ञान से उद्भासित हो उठता है। ऐसी ग्रवस्था में वह ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है, सारे कर्मों का ग्रन्त उस ज्ञान में जाकर हो जाता है। उस ज्ञान की ग्रवस्था के बाद भी कर्मयोग से सिद्ध हुग्रा पुरुष कर्म करता तो है, पर वह कर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कर्म तो वह है, जहाँ कर्ता हो। किन्तु जिस कर्म में कर्ता न हो, वह कर्म होकर भी वस्तुतः ग्रकर्म ही है। यही कर्मयोग की सर्वोच्च ग्रवस्था है।

इस प्रकार 'गीता' ने ज्ञान ग्रौर कर्म की निष्ठाग्रों को परमार्थ के दो स्वतंत्र पथों के रूप में निर्दिष्ट किया है। 'गीता' जिस 'महाभारत' का ग्रंश है, उसमें भी ज्ञान ग्रौर कर्म के रास्तों को स्वतंत्र बताया गया है। वहाँ 'शान्तिपर्व' के ३४८वें ग्रध्याय में यह कहा गया है कि सृष्टि के ग्रारम्भ में भगवान् नारायण ने हिरण्यगर्भ यानी ब्रह्मा को सृष्टि रचने की ग्राज्ञा दी। उनसे मरीचि ग्रादि सात प्रमुख मानसपुत्र

हुए। उन्होंने सृष्टि के सुचारु विस्तार के लिए योग अर्थात् कर्ममय प्रवृत्तिमार्ग का अवलम्बन किया। फिर ब्रह्मा के सनत्कुमार और कपिल आदि दूसरे सात पुत्रों ने उत्पन्न होते ही सांख्य यानी निवृत्तिमार्ग का अवलम्बन किया। ऐसा वर्णन कर फिर महाभारतकार कहते हैं कि ये दोनों मार्ग मोक्ष की दृष्टि से तुल्यबल अर्थात् वासुदेवस्वरूप एक ही परमेश्वर की प्राप्ति करा देनेवाले, भिन्न भिन्न और स्वतंत्र हैं। 'गीता' पर अपने 'सम्बन्ध-भाष्य' में भी आचार्य शंकर इन दो निष्ठाओं के सम्बन्ध में सूचित करते हुए लिखते हैं—"स भगवान् सृष्ट्वा इदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकीर्षुः मरीच्यादीन् अग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम्। ततः अन्यान् च सनकसनन्दनादीन् उत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास। द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणः च"—अर्थात्, "इस जगत् को रचकर इसके पालन करने की इच्छावाले उस भगवान् ने पहले मरीचि आदि प्रजापतियों को रचकर उनको वेदोक्त प्रवृत्तिरूप धर्म ग्रहण करवाया। फिर उनसे अलग सनक, सनन्दनादि ऋषियों को उत्पन्न करके उनको ज्ञान और वैराग्य लक्षणवाला निवृत्तिरूप धर्म ग्रहण करवाया। वेदोक्त धर्म दो प्रकार का है—एक प्रवृत्ति-रूप, दूसरा निवृत्तिरूप।" शंकराचार्य इन दो निष्ठाओं को स्वीकार तो करते हैं; पर यह नहीं मानते कि दोनों स्वतंत्र हैं। हम जैसा कह चुके हैं, वे प्रवृत्ति को निवृत्ति में जाने की सीढ़ी मानते हैं। उनके मत से निष्काम होकर किया गया प्रवृत्तिरूप धर्म का अनुष्ठान व्यक्ति को निवृत्तिरूप धर्म के लिए पात्रता प्रदान करता है। वे अध्याय २, श्लोक १० की टीका में ज्ञाननिष्ठा यानी सांख्य-बुद्धि की व्याख्या करते हुए

लिखते हैं— " 'अशोच्यान्' इत्यादिना भगवता यावत् 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इति एतदन्तेन ग्रन्थेन यत् परमार्थात्मतत्त्वनिरूपणं कृतं तत् सांख्यम्, तद्विषया बुद्धिः आत्मनो जन्मादि षड्विक्रियाभावाद् अकर्ता आत्मा इति प्रकरणार्थनिरूपणाद् या जायते सा सांख्यबुद्धिः सा येषां ज्ञानिनाम् उचिता भवति ते सांख्याः"—अर्थात्, " 'अशोच्यान्' इस श्लोक से प्रारम्भ कर 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इस श्लोक के पूर्व तक के प्रकरण में भगवान् ने जिस परमार्थ-आत्मतत्त्व का निरूपण किया है, वह सांख्य है, तद्विषयक जो बुद्धि है, अर्थात् आत्मा में छहों विकारों का अभाव होने के कारण आत्मा अकर्ता है, इस प्रकार का जो निश्चय उक्त प्रकरण के अर्थ का विवेचन करने से उत्पन्न होता है, वह सांख्यबुद्धि है। यह बुद्धि जिन ज्ञानियों के लिए उचित होती है (अर्थात् जो उसके अधिकारी हैं) वे सांख्ययोगी हैं।" तदनन्तर वे कर्मयोग-निष्ठा यानी योग-बुद्धि की व्याख्या में लिखते हैं— "एतस्या बुद्धेः जन्मनः प्राग् आत्मनो देहादिव्यतिरिक्तत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यपेक्षो धर्माधर्मविवेकपूर्वको मोक्षसाधनानुष्ठाननिरूपणलक्षणो योगः, तद्विषया बुद्धिः योगबुद्धिः, सा येषां कर्मिणाम् उचिता भवति ते योगिनः" — "इस (सांख्य) बुद्धि के उत्पन्न होने से पहले पहले आत्मा का देहादि से पृथक्पन, कर्तापन और भोक्तापन मानने की अपेक्षा रखनेवाला, जो धर्म-अधर्म के विवेक से युक्त मार्ग है, मोक्षसाधनों का अनुष्ठान करने के लिए चेष्टा करना ही जिसका स्वरूप है, उसका नाम योग है, और तद्विषयक जो बुद्धि है, वह योग-बुद्धि है। यह बुद्धि जिन कर्मियों के लिए उचित होती है (अर्थात् जो उसके अधिकारी हैं), वे योगी हैं।" इस प्रकार अधिकार-भेद से आचार्य शंकर दो रास्ते तो स्वीकार करते हैं, पर वे योग-बुद्धि की व्याख्या

में यह भी लिख देते हैं—'एतस्या बुद्धेः जन्मनः प्राग्'। इससे उनका यह अभिप्राय कि कर्मयोग की निष्ठा ज्ञानयोग की निष्ठा प्राप्त करने में सोपान के समान है, स्पष्ट हो जाता है।

अब भले ही शंकराचार्य योग को ज्ञान का साधन मानें, पर यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि योगी और ज्ञानी के स्वभाव में भिन्नता होती है और यह भिन्नता ज्ञान-लाभ के पश्चात् भी बनी रहती है। यदि ज्ञानी में ज्ञानलाभ के पश्चात् कर्म-संन्यास सहज हो जाता है, तो योगी में अलेपता। अतः 'गीता' का तात्पर्य ऐसा मानना गलत नहीं है कि वह दोनों निष्ठाओं को परमार्थ का स्वतंत्र साधन मानती है। 'महाभारत' के शान्तिपर्व में जनक-सुलभा-संवाद में भी हम जनक के कथन में इसी दृष्टिकोण की पुष्टि पाते हैं। राजा जनक कहते हैं—

आकिंचन्ये न मोक्षोऽस्ति किंचन्ये नास्ति बन्धनम्।
किंचन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते ॥३२०/५०

—'न तो आकिंचनता (दरिद्रता) में मोक्ष है और न किंचनता (आवश्यक वस्तुओं से सम्पन्न होने) में बन्धन ही है। धन और निर्धनता दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञान से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।'

एक बार मैंने वसिष्ठ गुफा में रहते समय स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी से पूछा था—क्या ज्ञान-प्राप्ति के लिए कर्म-संन्यास आवश्यक नहीं है ? उन्होंने उत्तर दिया था—नहीं, निवृत्ति के रास्ते जाने के लिए कर्म-संन्यास आवश्यक है, ज्ञान-प्राप्ति के लिए नहीं। इसका तात्पर्य यह कि ज्ञान के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद नहीं है, वह दोनों मार्ग से व्यक्ति को प्राप्त हो सकता है।

स्वामी विवेकानन्द इस गीतोक्त कर्मयोग के पक्षधर

थे, जो ज्ञान पर आधारित हैं और भक्ति के सम्पुट से ईश्वर-प्रपन्नता का पथ प्रस्तुत करता है। उन्होंने ज्ञानयोग की भी चर्चा की है, पर उनका बल इस कर्मयोग पर ही अधिक है।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में जब दो निष्ठाओं की बात कही, तो स्वाभाविक ही अर्जुन को लगा कि जब ज्ञानयोग भी एक रास्ता है, तो मैं उसी से क्यों न चलूँ? कर्मयोग के रास्ते घोर हिंसारूप कर्मों का चक्कर है। इस चक्कर में क्यों पड़ूँ? ज्ञानी का सहज, सरल, झंझटहीन पथ ही क्यों न पकड़ लूँ? यदि श्रीकृष्ण मुझे ज्ञान के पथ से, कर्म-संन्यास के मार्ग से चलने का आदेश दें, तो कितना उत्तम हो?

अर्जुन के इस मन्तव्य का उत्तर भगवान् ने क्या दिया, यह हम अगले श्लोकों की चर्चा में देखेंगे।

●

एकदम सब कुछ त्याग देना सम्भव नहीं होता। इसमें समय लगता है। यह मानना ही पड़ेगा। परन्तु यह भी सच है कि मनुष्य उसके विषय में सुनता रहे। निरन्तर त्याग और वैराग्य की बात सुनते रहने से सांसारिक वस्तुओं की कामना धीरे धीरे कम हो जाती है। शराब का नशा कम करने के लिए चावल का पानी थोड़ा थोड़ा करके पीना चाहिए। इससे धीरे धीरे स्वाभाविक अवस्था लौट आती है।

—— श्रीरामकृष्णदेव

एक सन्त से वार्तालाप (३)

स्वामी अद्भुतानन्द के संस्मरण

(स्वामी अद्‌भुतानन्द श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग संन्यासी-शिष्यों में से थे, जो रामकृष्ण संघ में लाटू महाराज के नाम से परिचित हैं। उनके ये संस्मरण 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' पत्रिका से साभार गृहीत एवं अनूदित हैं। ——स०)

अनेक भक्तों ने स्वामी अद्‌भुतानन्दजी से हुई अपनी भेंट के संस्मरण लिखे हैं। महेन्द्रनाथ दत्त उनके सम्बन्ध में लिखते हैं— "कुछ दिनों तक लाटू महाराज की ऐसी अवस्था थी मानो वे संसार में रहते हुए भी संसार में न हों। वे किसी से नहीं मिलते थे। दिन का अधिकांश समय कमरे में ही भाव में डूबे रहकर बिताते। उस समय सभी विषयों में 'हाँ' या 'ना' दोनों उनके लिए समान थे। न तो घृणा का भाव प्रदर्शित करते, न तिरस्कार का, और न ही उनमें कोई लगाव या प्रेम-ममता थी। न आशीर्वाद देते, न शाप। न किसी को आमंत्रित करते, न किसी जागतिक वस्तु की सराहना करते। गोल घूमते झूले पर से जिस प्रकार वस्तुएँ धुँधली दिखायी पड़ती हैं, उसी प्रकार जगत् उनकी दृष्टि में उस समय था। यह कहा जा सकता है कि उस समय उनकी एक प्रकार से मदहोशी की अवस्था थी।"

नवगोपाल घोष ने उनके सम्बन्ध में लिखा है — "एक समय था, जब लाटू महाराज हमारे यहाँ प्रायः आया करते थे। उस समय कोई भी उनको पहली नजर से ही समझ सकता था कि वे मायावी जगत् से ऊपर उठे हुए व्यक्ति हैं। स्वयं उनकी कोई चाह न थी, और न वे किसी के प्रति किसी कर्तव्य-बोध से अपने को बँधा महसूस करते। भोजन मिल गया तो ठीक, न मिला तो ठीक, उससे किसी प्रकार की खुशी या चिन्ता उन्हें न होती। उनकी ओर

एक नजर देखना ही उनकी नितान्त निःस्पृहता को उजागर कर देता था।"

सन् १८९९ में स्वामी योगानन्दजी के देहावसान के उपरान्त करीब एक महीने से अधिक का समय लाटू महाराज ने बेलुड़ मठ में ही बिताया था। उस दौरान परम भक्त नाग महाशय से उनकी भेंट हुई थी। उस भेंट का वर्णन करते हुए लाटू महाराज ने कहा था, "जब नाग महाशय नया मठ (बेलुड़ मठ) देखने आये थे, तब स्वामीजी (विवेकानन्दजी) से भेंट होने पर उन्होंने कहा था, 'आज मैं शिवावतार को देख रहा हूँ।' स्वामीजी हम लोगों से कहने लगे, 'देखो, ये गृही भक्त हैं, फिर भी त्याग-वैराग्य-संयम में अनेक संन्यासियों की अपेक्षा बहुत ऊँचे हैं। संसार के प्रति कैसा दृष्टिकोण है, देखो। भगवान् के चिन्तन में इतने डूबे हुए हैं कि संसार है या या नहीं इसकी कोई सुध नहीं।' नाग महाशय को मैंने एक बार और देखा था। उस दिन वे श्रीमाँ (सारदा देवी) के दर्शनार्थ सरकारबाड़ी गली के मकान में आये थे। उस दिन भी वे भावाविष्ट थे। ऐसी विनम्रता और दीनता बिरले ही मनुष्य में दिखायी देती है।"

आगे वे कहने लगे, "स्वामीजी के बाहर प्रवास पर जाने पर मेरी भी बेलुड़ मठ में रहने की इच्छा नहीं हुई। तब मैंने उपेन बाबू के छापाखानेवाले कमरे में रहने का निश्चय किया। उपेन बाबू ने भी जब तक मेरी इच्छा हो वहाँ रहने की अनुमति दे दी।"

तब श्रोताओं में से एक ने पूछा, "परन्तु इतने स्थानों के होते हुए भी आपने छापाखाना क्यों चुना?"

"उसमें क्या खराबी थी?" लाटू महाराज ने उत्तर दिया। "वहाँ रात में मुझे बहुत आराम रहता। कागज रखने

की लकड़ी की बड़ी बड़ी पेटियों पर अपना कम्बल बिछा मैं सुख से रहता ।"

"पर महाराज, वहाँ शोरगुल नहीं होता था ?"

"होता था थोड़ा जरूर, पर उससे मेरे ध्यान में बाधा नहीं होती थी। वहाँ काम करने वाले कुछ लोग मुझे मानते थे और मेरी सेवा क ते रहते; फिर उपेन बाबू भी मुझे बहुत चाहते थे, इसीलिए वहाँ टिक गया था।"

"महाराज, हम लोगों ने किसी किसी से सुना है कि आप वहाँ काम करनेवालों के साथ मिलकर रहते थे, इसलिए भद्र लोग आपके पास नहीं आते थे। श्री... कह रहे थे कि वे सब बदमाश किस्म के लोग थे।"

"हाँ, मैं उन लोगों के साथ मिल-जुलकर रहता, पर उसे कैसे मालूम कि वे लोग बदमाश थे ?"

"क्योंकि उनमें से कुछ लोग शराब और जुए के आदी थे। क्या यह सच नहीं है ? तब आप उन लोगों के साथ क्यों रहते थे ?" भक्त ने पूछा।

लाटू महाराज ने तुरन्त उत्तर दिया, "पर वे लोग कपटी नहीं थे ।"

एक भक्त जो इस वार्तालाप के समय उपस्थित थे, ने अपनी डायरी में लिखा है— "लाटू महाराज मनुष्यों को दो श्रेणियों में बाँटकर रखते थे, एक सरल श्रद्धालु और दूसरा कपटी। वे पहले प्रकार के लोगों के प्रति प्रेम और सहानुभूति रखते, पर दूसरे प्रकार के लोगों को तो दूर से ही नमस्कार करते।"

लाटू महाराज के वसुमति प्रेस में रहते समय निम्न लिखित घटना घटी थी—एक गहरी रात में उनको अपना पूरा गला फाड़कर यह चिल्लाते हुए सुना गया "चुप रह

शैतान ! मुझे—मुझ ठाकुर की सन्तान को धमकाने की तेरी हिम्मत ? तेरी सब धमकियाँ और कलाबाजियाँ किसी काम की नहीं। इसे अच्छी तरह जान रख !" इस प्रकार उन्हें गरजते सुन बगल के कमरे से कर्मचारीगण दौड़कर उनके कमरे में गये और उन्होंने वहाँ उन्हें 'वीरासन' में बैठे देखा। उनकी आँखें स्थिर और अंगार की तरह लाल चमक रही थीं। उन्हें इस भयावह मुद्रा में देख उन लोगों को समझ में नहीं आया कि क्या करें। अन्त में उनमें से एक ने किसी प्रकार साहस कर उनसे पूछा, "रात को इस समय आप किस पर बरस रहे हैं, महाराज ? हमें तो कोई नहीं दिखता।" लाटू महाराज ने कोई जवाब नहीं दिया।

यह जानी हुई बात है कि श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि के लगभग सात या आठ वर्ष के बाद लाटू महाराज को दूसरी बार निर्विकल्प समाधि का अनुभव हुआ था। एक बार एक भक्त से उन्होंने कहा था, "ऐसा मत सोचो कि किसी साधक को एक बार निर्विकल्प समाधि प्राप्त होने पर वह कई बार उसका अनुभव कर सकता है या जब उसकी इच्छा हो, तब वह अवस्था पा सकता है। ऐसे अनेक हैं, जिन्होंने मात्र एक ही बार उसका आस्वाद पाया है। और कई ऐसे भी हैं, जो उस तक कभी नहीं पहुँच पाएँगे। उनकी (ठाकुर की) मुझ पर अशेष कृपा है। आठ वर्षों तक इस अनुभूति को पाने के लिए साधना करने पर उन्होंने दया करके मुझे उस स्थिति तक फिर उठा दिया।

"एक दिन मैं गंगाजी के घाट पर बैठा था। मैंने देखा कि गंगाजी के जल में से एक प्रकाशपुंज निकल रहा है। उसका आकार बढ़ता गया और उससे पूरा आकाश और धरती व्याप्त हो गयी। उस अनन्त प्रकाश के भीतर मैंने अनेक

प्रकाश-बिन्दुओं को देखा। यह देखते देखते मैं उसमें पूरी तरह से समाहित हो गया। मुझे कुछ पता नहीं उसके बाद क्या हुआ। तथापि जब मैं उस अद्भुत लोक से लौटा, तब भी दिव्यानन्द में डूबा हुआ था। कैसा आनन्द था! उसे शब्दों में नहीं बता सकता। ठाकुरजी के जाने के बाद मैं अपने हृदय में जिस भारीपन का लगातार अनुभव किया करता था, वह हमेशा के लिए हवा में उड़ गया। प्रत्येक वस्तु सच्चिदानन्द में पगी हुई दिखने लगी।"

सन् १९०२ की शिवरात्रि (उस दिन सारी रात उपवास रखकर जागरण किया जाता है) के समय स्वामी अद्भुतानन्दजी बेलुड़ मठ में थे। कुछ भक्तों के साथ वे कल्याणेश्वर शिव-मन्दिर में पूजा देखने गये। एक भक्त को देख उन्होंने उससे कहा, "मुझे ऐसा लगता है कि उपवास से तुम्हें कष्ट हो रहा है, थोड़ा कुछ खा लो।"

भक्त ने उत्तर दिया, "नहीं महाराज, मैं पूजा की समाप्ति तक कुछ न लूँगा।"

तब लाटू महाराज ने कहा, "यह महज मूर्खता है। मन को तो भगवान् शिव के ध्यान में लगे रहना चाहिए। तुम्हारी पूजा का क्या मतलब यदि उपवास तुम्हारे मन को भगवान् से दूर कर दे? उपवास के कष्ट को तुम्हारी भक्ति के ऊपर मत हावी होने दो। यदि खाने का ही चिन्तन होता रहेगा, तो फिर लगन और भक्ति के साथ कैसे पूजा करोगे? यदि मन विक्षिप्त रहा, तो फिर किसी प्रकार की भक्ति सम्भव नहीं है।"

एक और प्रसंग इसी प्रकार के उपवास के सम्बन्ध में है। एक बार लाटू महाराज नकुलेश्वरताल के शिवमन्दिर की पूजा देखने गये। वहाँ एक भक्त को उन्होंने भूख के कारण

मूर्छित होते देखा।

"धर्म के बारे में क्या विचित्र धारणा बना रखी है तुम लोगों ने?" लाटू महाराज ने उससे कहा। "क्या तुम सोचते हो कि दाँत मींजने और शरीर का कष्ट भोगने से कुछ लाभ होगा? क्या ये सब तुम्हारा ध्यान ईश्वर से दूर नहीं हटा देंगे? यह सब धर्म नहीं है। धर्म तो आनन्द की वस्तु है और यदि भगवान् के चिन्तन से आनन्द नहीं आता, तो उपवास सिर्फ बकवास है। यदि उपवास से तुम्हारा शरीर मुर्दा बन जाय और दिमाग कुन्द हो जाय, तो फिर तुम्हारे लिए पूजा करना कैसे सम्भव होगा?

"इसलिए ऋषियों ने ऐसे अवसरों पर पूजा करनेवालों को हल्का सुपाच्य भोजन करने की सलाह दी है। तब मन भी शान्त रहता है और पूजा में भी जल्दी रम जाता है। ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) कहा करते थे—'पहले थोड़ा कुछ खाकर फिर पूजा में बैठना ज्यादा अच्छा है'।"

इसी साल की बात है, स्वामी विवेकानन्दजी ने लाटू महाराज से कहा था, "मेरे जाने के बाद ही तुम लोग समझ सकोगे कि मैंने क्या किया है। अभी तो बस शुरुआत है। यूरोप और अमेरिका के लोग हमारे ठाकुर की महत्ता को अब धीरे धीरे समझ रहे हैं। अभी वे दो-तीन करके भारत आते हैं, पर तुम उन्हें सैकड़ों एक साथ आते देखोगे। तब लोग समझेंगे कि इस विवेकानन्दरूपी शैतान ने क्या किया है!"

लाटू महाराज ने अपने गुरुभाई की बात ध्यान से सुनी और फिर धीरे से कहा, "पर भाई, तुमने नया क्या किया? तुम भी क्या उसी पथ पर नहीं चले, जिस पर से दूसरे महान् आचार्य—जैसे बुद्ध, शंकर आदि—चले थे? क्या तुमने सचमुच कुछ नया किया है?"

यह सुन स्वामीजी अचरज से मुसकराये और कह उठे, "आह मेरे प्लेटो (लाटू महाराज को वे स्नेह से 'प्लेटो' कहा करते थे), तुम बिलकुल ठीक कहते हो! मैंने बस उन लोगों के पदचिह्नों का ही अनुसरण किया है।" उसके बाद हाथ जोड़ ऊपर की ओर दृष्टि कर प्राचीन आचार्यों को नमन किया।

एक दिन स्वामी विवेकानन्दजी ने स्वामी प्रेमानन्दजी से कहा, "बाबूराम, किसी को दीक्षा मत देना। इससे शिष्यों के बीच झगड़ा शुरू हो सकता है। ये कहना शुरू कर देंगे-- 'मेरे गुरुदेव बड़े हैं, आदि आदि। आज से मैं भी दीक्षा देना बन्द करता हूँ। इसे हम अपने राजा (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) के लिए विशेषाधिकार रखेंगे।" लाटू महाराज इस वार्तालाप के समय उपस्थित थे। क्या यही कारण है कि उन्होंने (लाटू महाराज ने) किसी को शिष्य-रूप में स्वीकार नहीं किया?

जब स्वामी विवेकानन्दजी काश्मीर-भ्रमण में थे, तब उन्होंने एक सुन्दर-सी शाल खरीदी थी जिसे उन्होंने लाटू महाराज को दे दी। एक दिन लाटू महाराज स्वामीजी के शिष्य शरच्चन्द्र चक्रवर्ती से मिलने गये, उस दिन उन्होंने वही शाल ओढ़ रखी थी। शरत् ने उसकी प्रशंसा की। तत्काल लाटू महाराज ने उसे उतारकर शरत् को भेंट करते हुए कहा, "तुम्हें पसन्द है न, शरत्? बहुत अच्छा। ये कीमती चीजें साधुओं के लिए नहीं हैं, स्वामीजी के प्रेम के कारण मैंने एक दिन ही पहना है, यदि तुम इसे स्वीकार करोगे, तो मुझे बहुत खुशी होगी।"

भक्त संकोच में पड़ गये, बोले, "महाराज, क्षमा करें मैं अपने गुरुदेव द्वारा आपको दी गयी भेंट को कैसे स्वीकार कर लूँ? यह अच्छा नहीं दिखता।" यह खबर स्वामीजी के

पास भी पहुँची। उन्होंने बाद में शरच्चन्द्र से कहा था, "तुझे शाल स्वीकार कर लेनी थी। तू जानता ही है लाटू कितना विचित्र है। वह उसे किसी को भी दे देगा। यदि तू ले लेता, तो कम से कम वह सुरक्षित तो रहती।"

एक समय था, जब लाटू महाराज स्वामी सारदानन्द जी के साथ सब जगह जाया करते थे। सारदानन्दजी जब भी व्याख्यान देने के लिए कलकत्ता जाते, वे उन्हें अपने साथ ले जाते। एक ऐसे ही अवसर पर सारदानन्दजी ने दो घण्टे भाषण दिया। उसके बाद यद्यपि वे थक गये थे, फिर भी श्रोताओं ने प्रश्न पूछना जारी रखा। अन्त में लाटू महाराज ने बीच में हस्तक्षेप करते हुए सारदानन्दजी को सम्बोधित करके कहा, "बहुत हो गया, शरत्, बहुत हो गया। अब तुम्हें बन्द कर देना चाहिए!" श्रोताओं में से कुछ ने इसे अनधिकार चेष्टा समझ कड़े आक्षेप किये। लाटू महाराज उन लोगों की तरफ पलटकर बोले, "मैं जानता हूं, तुम लोग वक्ता को पसन्द करते हो और चाहते हो कि वे बोलते रहें। पर क्या तुममें से कोई उनके दुखते गले को सेंकने के लिए कल आएगा?" उन्होंने ये शब्द इतनी आत्मीयता और भाव के साथ कहे कि श्रोतागण चुप हो गये।

एक दिन एक भक्त लाटू महाराज के दर्शन के लिए आया और विनम्रता से प्रार्थना करने लगा, "महाराज, इस संसार से हम कैसे सुरक्षित रह सकते हैं? हम लोगों के लिए क्या कोई राह नहीं है? हम लोगों पर दया कीजिए और इस संसाररूपी कुएँ से हमें उबार लीजिए।"

लाटू महाराज ने शान्त भाव से ये शब्द सुने। फिर कहा, "देखो, आदमी आदमी की सहायता नहीं कर सकता। सिर्फ वो ही हैं, जो कर सकते हैं——गुरु के रूप में सच्चिदानन्द

और भगवान् स्वयं। तुम्हें सही गुरु मिल गये हैं, तुम अपने भविष्य की क्यों चिन्ता करते हो? जब तुम्हें ऐसे गुरु मिल गये हैं, तब तुम्हारे लिए सुरक्षित आश्रय है। भगवान् के दर्शन मिलना बस उचित समय का प्रश्न है। धीरज धरे रखो।"

भक्त ने कहा, "मुझे विश्वास है कि भगवान् के दर्शन कभी न कभी मिलेंगे। पर क्या वह इसी जन्म में हो सकेगा?"

"इस प्रकार के सन्देहों से स्वयं को मत परेशान करो। इस प्रकार के सन्देह और अविश्वास आध्यात्मिक पथ के बड़े रोड़े हैं। वे विश्वास की नींव को डगमगा देते हैं।"

"जी, पर फिर भी सन्देह मेरे भीतर बने हुए हैं। मैं अपने गुरु के आदेश का पालन करने में भी असफल रहा हूं। मैं स्वार्थी और भ्रष्ट हो गया हूं। लगता है मेरा जीवन निरर्थक हो गया है।"

लाटू महाराज ने उत्तर दिया, "इस प्रकार हताश होने की कोई बात नहीं है। क्या तुम जीवन का उद्देश्य नहीं जानते? भगवान् के दरबार में कोई अन्याय नहीं हो सकता; कोई जीवन वृथा नहीं जाता। एक बार शशि भाई (स्वामी रामकृष्णानन्दजी) ने एक सज्जन को, जो तुम्हारे समान ही बोल रहा था, बड़ा सुन्दर जवाब दिया था। उन्होंने कहा, 'मान लो, तुम कहीं जा रहे हो। रास्ते में सड़क पर खाई मिलती है। तब तुम क्या करते हो? करीब दस कदम पीछे हटकर, जोरों से आगे दौड़कर, खाई के ऊपर से कूद जाते हो, क्या प्रगति के लिए वह दस कदम पीछे हटना जरूरी नहीं है? यह वैसा ही है।' शायद एक जीवन में आदमी को दस कदम पीछे हटना आवश्यक होता हो। अगले जीवन में उसे तेजी से दौड़ लगानी पड़ती है। पर कोई भी जीवन वृथा नहीं जिया जाता।

"बस एक बात याद रखो—अपना जीवन ऐसा जिओ कि नजर भगवान् पर बनी रहे। तब वे जहाँ चाहेंगे, तुम्हें ले जाएँगे। जब जिस चीज की आवश्यकता होगी, पूरी करेंगे। वे तुम्हारा भूत, वर्तमान, भविष्य जानते हैं। इसलिए सर्वश्रेष्ठ कार्य जो मनुष्य कर सकता है, वह है बिना किसी संकोच के स्वयं को ईश्वर को समर्पित कर देना।"

एक दिन दो अँगरेज महिलाएँ लाटू महाराज से बलराम बाबू के घर में मिलने आयीं, जहाँ उस समय महाराज रह रहे थे। उन लोगों ने बतलाया कि वे जन-सेविकाएँ हैं। उन लोगों ने नये बने रामकृष्ण मिशन के सम्बन्ध में सुना था। उन दिनों मिशन की बैठक बलराम बाबू के मकान पर हुआ करती थी। एक दुभाषिया उपस्थित था। दोनों में से अधिक उम्रवाली महिला ने लाटू महाराज से पूछा, "लोगों की सेवा ही जीवन का आदर्श है— इस विषय में हम आप लोगों से एकमत हैं। पर आप लोग ईश्वर को उच्चतर स्थान देते हैं। यहाँ हम आपसे अलग हैं। इस विचार से हम लोग सहमत नहीं हो सकते। हमारा विश्वास है कि ईश्वर को नहीं जाना जा सकता; उनका अस्तित्व ही सन्देहपूर्ण है। मिशन (रामकृष्ण मिशन) के बारे में हम लोग नहीं समझ पा रहे हैं कि आप लोग क्यों इस बात पर जोर देते हैं कि पहले ईश्वर को जानना और फिर जन-सेवा ?"

लाटू महाराज ने उन लोगों को इस प्रकार उत्तर दिया, "वे लोग जो बिना ईश्वर में विश्वास रखे सेवा-कार्य करना चाहते हैं, ज्यादा दिन नहीं चला पाते, क्योंकि कुछ समय बाद ही वे सोचने लगते हैं, 'इन सब सेवा-कार्यों से मुझे क्या लाभ हो रहा है ?' वे जब मन की ऐसी अवस्था में पहुँचते हैं, तब अपने कार्य में उनका उत्साह खत्म होने लगता

है। ऐसा होना ही है। सभी सेवा-कार्यों में व्यक्तिगत त्याग की आवश्यकता होती है; जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते, उनके पास इस प्रकार के त्याग के लिए कोई पर्याप्त कारण नहीं होता।"

सन् १९०७ में गिरीशचन्द्र घोष ने दुर्गापूजा के समय माँ (सारदा देवी) को आमंत्रित किया था। पूजा के दिनों माँ उनके घर में अतिथि थीं, उसके बाद वे बलराम बाबू के घर में टिकी थीं। श्रीरामकृष्णदेव के एक गृहस्थ शिष्य वैकुण्ठनाथ सान्याल इस प्रकार लिखते हैं—"एक समय जब माँ बलराम बाबू के घर में प्रवेश कर रही थीं, तब उनकी दृष्टि दरवाजे के पासवाले कमरे में बैठे अपनी प्रिय सन्तान लाटू पर पड़ी। वे उनके पास गयीं और स्नेह से पूछा, "लाटू बेटे, तू कैसा है?"

लाटू ने फौरन उत्तर दिया, "तुम सम्भ्रान्त घर की महिला हो। कृपया यहाँ खड़े होकर मुझसे मत बात करो। मैं तो तुम्हारा सनातन सेवक हूँ। 'जनाना में मुझे बुला भेजना, मैं तुरन्त वहाँ उपस्थित होऊँगा।" माँ ने मन ही मन मुसकराकर घर के भीतर प्रवेश किया।

जब तक माँ बलराम बाबू के यहाँ रहीं, तब तक प्रतिदिन लाटू महाराज के पास वे अपना प्रसाद भिजवातीं। बाद में लाटू महाराज ने एक भक्त से कहा था, "देखो, माँ यहाँ बलराम बाबू के यहाँ आकर रुकती थीं। कई लोग मुझसे पूछते, 'यह कैसा है, महाराज, माँ यहाँ हैं और आप कभी उनके दर्शन के लिए नहीं जाते?' मैं उन लोगों से कह देता, 'अच्छा तो उससे क्या?' बहुत थोड़े से लोग ही मेरे शब्दों का मर्म समझ पाते। बहुत से लोग तो मुझ पर रुष्ट हो जाते और मुझे सुना-सुनाकर कठोर वचन बोलते।

"अन्त में मैंने चिढ़कर कहा, 'ये बदमाश लोग माँ क्या हैं जानने के लिए साधना तो करेंगे नहीं। बस, माँ-माँ चिल्लाकर अपने शब्दों का प्रदर्शन भर करेंगे। ये मूर्ख लोग माँ को सिर्फ प्रदर्शन की वस्तु बना ले रहे हैं। मुझे उस प्रकार की माँ की आवश्यकता नहीं है।'

"यह ठीक ठीक समझना कि माँ क्या हैं और उनकी दिव्यता का आदर करना कोई मामूली बात नहीं है। उदाहरण के लिए उनके जीवन की यही एक बात समझने की कोशिश करो। ठाकुर, जो भगवान् के अवतार थे, उन्होंने स्वयं उनकी पूजा की थी और वे उस पूजा को ग्रहण कर सकी थीं। कितने हैं, जो इस घटना को समझ सकते हैं ? माँ क्या हैं यह ठाकुर ने समझा था और कुछ अंशों में स्वामीजी ने। वे साक्षात् लक्ष्मी हैं। बहुत तपस्या करने पर तब कहीं समझ में आ सकता है कि वे कौन हैं।"

माँ बलराम बाबू के घर से विदा ले जयरामवाटी जाने की तैयारी कर रही थीं। एक प्रत्यक्षदर्शी ने इस हृदय-स्पर्शी घटना का वर्णन किया है— "एक एक करके सब माँ के चरणों में प्रणाम करने लगे। पर लाटू महाराज अपने कमरे में ही इधर-उधर चहलकदमी करते हुए बार बार अपने से कह रहे थे—'संन्यासी के भला माँ-बाप कौन ? वह तो सब माया से ऊपर है'। माँ उनके कमरे के पास से गुजर रही थीं, तब उन्होंने लाटू महाराज के ये शब्द सुने। उनके कमरे के दरवाजे के पास खड़ी हो माँ ने धीरे से कहा, "लाटू बेटे, मुझे पहचानने की जरूरत नहीं।" लाटू एकदम उछल पड़े और माँ के चरणों में पड़कर माथा रगड़ने लगे। आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। अपने प्रिय लाटू को रोते देख माँ भी अपने आँसुओं को नहीं रोक सकीं।

इस पर लाटू ने अपनी चादर से माँ के आँसू पोंछते हुए कहा, "नहीं माँ, नहीं, मत रोओ, तुम अपने पिता के घर जा रही हो न। तुम्हें नहीं रोना चाहिए। शरत् (स्वामी सारदानन्द) तुम्हें शीघ्र यहाँ वापस ले आएगा। मत रोओ माँ, मत रोओ। अपने पिता के घर जाने के पहले नहीं रोना चाहिए।"

ये शब्द इतनी मार्मिक भावना के साथ कहे गये थे कि हम सब सुनकर अभिभूत हो उठे। हम लोग चुप हो कुछ देर अपने स्थान में जड़ हो गये।

एक समय लाटू महाराज को पता लगा कि एक भक्त का नैतिक 'पतन' हो गया है और वह पश्चात्ताप की अग्नि में जल रहा है। उन्होंने उस व्यक्ति को मिलने के लिए बुलवाया। जब वह आया, तब लाटू महाराज उससे बोले, "देखो बेटे, तुमने जीवन में कुछ भूलें की हैं। पर इसका यह अर्थ तो नहीं कि तुम अपनी आध्यात्मिक साधना छोड़ दो और भूतकाल की गलतियों का ही हमेशा सोच करते रहो। सब लोग गलतियाँ करते हैं। उनको (भगवान् को) पुकारो। वे तुम्हें शक्ति देंगे, जिससे अपनी कमजोरियों पर तुम विजय पा सको। तुम पर यह जो मायूसी का बादल छाया है, उसे वे दूर कर देंगे, क्योंकि वे साक्षात् दया हैं। तुम्हारे पाप कितने भी बड़े क्यों न हों, उनकी दयादृष्टि कभी सदा के लिए दूर नहीं होती।

"कितनी छोटी सी भूल की है तुमने और उसके लिए तुम्हारा इतना गहरा अवसाद! जरा अजामिल और बाल्मीकि के बारे में सोचो! उनकी तुलना में तुम्हारे पाप क्या हैं? क्या तुम जानते हो विवेकानन्द भाई क्या कहते? 'स्याही के एक दाग के समान पाप क्या है? उनके कृपा-सागर में ऐसे एक सौ पाप धुल जाएँगे!' इसलिए मैं कहता हूँ, रंज मत करो,

बल्कि अपनी आध्यात्मिक साधना द्विगुणित कर दो। क्या ब्राह्म समाज का वह गीत तुम्हें याद है? 'हे प्रभो! मेरी कलुषित भावनाओं को दूर कर उनकी जगह पवित्र विचार भर दे।' दिन-रात उनसे प्रार्थना करो। देखोगे, तुम्हारी यह बुरी प्रवृत्ति भूतकाल की वस्तु हो जाएगी।"

फिर भी भक्त अपनी नजर ऊपर नहीं उठा पा रहा था, उसके भीतर इतनी गहरी शर्मिन्दगी थी। तब लाटू महाराज बोले, "कोई पाप करने से पहले मनुष्य की अन्तरात्मा उसके अन्दर शर्म की भावना जगाती है, पर उस भावना को मन शीघ्र ही दूर हटा देता है। किन्तु दैवी विधान है कि एक बार पापकर्म हो गया, तो वह पाप उसे ग्रस्त कर लेता है और फिर वह मनुष्य अपना सिर नहीं उठा पाता।

"परन्तु तुम्हें शर्मिन्दा होने की कोई बात नहीं है।" लाटू महाराज आगे कहने लगे, "तुमने जो भी किया है, उसे भगवान् ने देख लिया है। उनसे तुम कुछ नहीं छिपा सकते। यदि उन्हें सब मालूम हो गया है, तो फिर क्यों तुम इतना विषण्ण होते हो? बल्कि, तुम्हें और कठिनतर साधना में लग जाना चाहिए। सन्त-महापुरुषों का संग-लाभ करो और मेरे पास भी बीच बीच में आओ।" यह सुन भक्त के अन्दर फिर आत्म-बल जागने लगा।

एक भक्त ने एक बार स्वामी अद्भुतानन्दजी से प्रश्न पूछा, "महाराज, शास्त्र कहते हैं कि भगवान् जीव के भीतर निवास करते हैं। इसका क्या अर्थ है?"

लाटू महाराज ने उत्तर दिया, "देखो, वह कहने का एक तरीका है। वास्तव में उनके अस्तित्व को बतलाने के लिए कोई भाषा पर्याप्त नहीं है। इस सत्य को कि वे अनस्तित्ववान् नहीं हैं, किसी प्रकर समझ लेना होगा। भाषा की एक

प्रकार की अस्पष्टता और सीमा होती है, क्योंकि वे जो हैं, वह विचार से परे है। उसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

"जैसा हम जानते हैं, वे सर्वव्यापी हैं। तब फिर हम कैसे अन्दर और बाहर, ऊपर या नीचे, पूर्व या पश्चिम की बात कर सकते हैं। वे तो सब जगह हैं। वे सबमें भिदे हुए हैं। तुम कहीं पर भी ऊँगली दिखाकर नहीं बतला सकते कि यहाँ वे नहीं हैं। वे असीम हैं, सर्वव्यापक हैं, अशेष हैं। जब तुम ब्रह्म शब्द का उपयोग करते हो, तब उसी अर्थ में करना होगा। फिर भी यह उन्हें ठीक से नहीं समझा पाता। परन्तु हमें उनके बारे में कुछ तो कहना पड़ेगा। इसलिए हम कहते हैं कि वे सबके भीतर हैं और सबसे परे हैं। ठाकुर यह कहा करते थे। वे यह भी कहते कि सभी वस्तुएँ हमारे मुँह से लगकर जूठी हो गयी हैं। एकमात्र ब्रह्म ही शुद्ध है, क्योंकि वह वाणी से परे है।"

एक भक्त बोले, "यह सच हो सकता है—पर हम यह जानना चाहते हैं कि आपने क्या समझा है।"

लाटू महाराज कहने लगे, "देखो, ब्रह्म को कोई समझ तो सकता है, पर वह पाता है कि उसे अभिव्यक्त करना असम्भव है। भावना को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा आवश्यक है—और भाषा उसे अभिव्यक्त करने में असफल हो जाती है। ठाकुर कहा करते थे, 'मेरे बच्चो, मैं अपनी तरफ से तो पूरी चेष्टा करता हूँ कि तुम लोगों को सब बतला दूँ, पर माँ मेरे गले को दबा देती हैं और मैं कुछ भी नहीं बोल पाता!' तुम हजारों शब्द रोज बोलते हो। कभी सोचा है वे कहाँ से आते हैं?"

"क्यों, मन से।"

"मन में कहाँ से? ये विचार उसमें कहाँ से आते

है ? और ठीक ठीक मन कहाँ पर है ?"

"मस्तिष्क और जिह्वा को स्नायु जोड़ते हैं," भक्त ने उत्तर दिया। "मन उन्हीं के बीच कहीं होना चाहिए।"

"किस रूप में ?"

"वह स्पन्दन के रूप में होगा।"

"अब मुझे बताओ," लाटू महाराज ने पूछा, "क्या ये स्पन्दन सब समय रहते हैं या बन्द हो जाते हैं और पुनः क्रियाशील होते हैं ?"

भक्त (थोड़ा अकचकाते हुए), "महाराज इस पर तो मैंने कभी सोचा ही नहीं है।"

"थोड़ा इस पर सोचो।"

"शायद वे रुककर फिर क्रियाशील होते हैं। वे मस्तिष्क पर स्नायुशक्ति से आघात करते हैं और तब उसकी प्रतिक्रिया होती है।"

"यदि तुम कहते हो कि स्पन्दन बन्द हो जाते हैं, तब बिना किसी बाह्य क्रिया के दूसरे स्पन्दन फिर से कैसे क्रियाशील होते हैं ?"

"मैं नहीं जानता।"

"इसलिए देखो, इन बातों को कुछ हद तक ही समझाया जा सकता है। उसके आगे नहीं जाया जा सकता।"

दोनों भक्तों ने लाटू महाराज से विदा ली। बाद में, गाड़ी में चढ़ते समय उनमें से एक ने दूसरे से कहा, "मैंने ऐसी बातें पहले कभी नहीं सुनीं। ये अनपढ़ साधु सचमुच इन सब बातों पर पहले विचार कर चुके हैं, इस प्रकार के प्रश्नों का हल ढूँढ़ चुके हैं ! कितना विचित्र है यह ! हम अपनी शिक्षा पर गर्व करते हैं, पर उनकी उपस्थिति में वह सब गर्व चूर चूर हो जाता है। वास्तव में वे हमसे ज्यादा शिक्षित हैं।

(क्रमशः)

●